ಕರ್ನಾಟಕ ರಾಜ್ಯ ಮುಕ್ತ ವಿಶ್ವವಿದ್ಯಾನಿಲಯ
ಮಾನಸಗಂಗೋತ್ರಿ, ಮೈಸೂರು – 570 006.

Karnataka State Open University
Manasagangothri, Mysore - 570 006.

आधुनिक हिन्दी गद्य एवं नाटक, निबन्ध, उपन्यास, कहानी

M. A. Previous HINDI
Course / Paper - III

Block - 1

ಉನ್ನತ ಶಿಕ್ಷಣಕ್ಕಾಗಿ ಇರುವ ಅವಕಾಶಗಳನ್ನು ಹೆಚ್ಚಿಸುವುದಕ್ಕೆ ಮತ್ತು ಶಿಕ್ಷಣವನ್ನು ಪ್ರಜಾತಂತ್ರೀಕರಿಸುವುದಕ್ಕೆ ಮುಕ್ತ ವಿಶ್ವವಿದ್ಯಾನಿಲಯ ವ್ಯವಸ್ಥೆಯನ್ನು ಆರಂಭಿಸಲಾಗಿದೆ.

ರಾಷ್ಟ್ರೀಯ ಶಿಕ್ಷಣ ನೀತಿ 1986

The Open University system has been initiated in order to augment opportunities for higher education and as an instrument of democratising education.

National Education Policy 1986

प्रथम एम.ए. - कोर्स तीसरा

Couse - III, Paper - III

1

"आधुनिक गद्य एवं निबंन्ध, नाटक, नाटिक, एकाँकी, उपन्यास और कहानी साहित्य"

"हिन्दी के श्रेष्ठ निबन्ध "

Unit No. 1 to 4		Page No.
अनुक्रमणिका		

इकाई	01	हिन्दी निबंध साहित्य	1 - 26
इकाई	02	आचार्य शुक्ल और उनके निबंध	27 - 52
इकाई	03	आचार्य शुक्ल के निबंध - 'श्रद्धा-भक्ति' और 'उत्साह'	53 - 86
इकाई	04	हजारीप्रसाद द्विवेदी और उनके निबंध	87 - 114

पाठ्यक्रम अभिकल्प तथा संपादकीय समिति

प्रो.एम.जी.कृष्णन
उप कुलपति महोदय तथा
संपादकीय समिति के अध्यक्ष
क.रा.मु.वि.विद्यालय,
मैसूर - 6

प्रो.एस.एन.विक्रमराज अरस
डीन (शैक्षणिक) - संयोजक
क.रा.मु.वि. विद्यालय
मैसूर - 6

डॉ॰कांबले अशोक संयोजिक
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
क.रा.मु.वि.विद्यालय, मानस गंगोत्री
मैसूर - 6

डॉ.बी.गणेश संपादक
रीडर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
ज्ञानभारती, बेगलूर वि.विद्यालय
बेंगलूर - 56.

पाठ्यक्रम के लेखिका

डॉ.एम.विमला
रीडर, हिन्दी विभाग
बेंगलूर विश्वविद्यालय, ज्ञानभारती
बेंगलूर - 56.

कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय, मैसूर, शैक्षणिक अनुभाग द्वारा निर्मित । सभी अधिकार सुरक्षित । कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय से लिखित अनुमति प्राप्त किए बिना, इस कार्य के किसी भी अंश को किसी भी रूप में अनुलिपित या किसी अन्य माध्यम द्वारा प्रतिकृति नहीं किया जाएगा ।

कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम पर अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मानस गंगोत्री, मैसूर - 6 से प्राप्त की जा सकती है ।

कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से **रजिस्ट्रार (प्रशासन)** द्वारा मुद्रित व प्रकाशित ।

ब्लाक परिचय

प्रिय विद्यार्थी,

कोर्स - एक में आपने **'कर्नाटक संस्कृति एवं कन्नड़ साहित्य'** का अध्ययन किया ।

कोर्स - दो में आपने **'आधुनिक हिन्दी काव्य'** के बारे में अध्ययन किया और कविवर 'जयशंकर प्रसाद', 'मैथिलीशरण गुप्त', 'रामधरी सिंह दिनकर' और 'सूर्यकांत त्रिपाठी निराला' तथा 'नये कवियों' के बारे में जानकारी प्राप्त कर लीं ।

अब आप **कोर्स - तीन** में **'आधुनिक गद्य एवं निबन्ध'** में हिन्दी के निबंध, नाटक, नाटिका, कहानी, एकांकी और उपन्यास के बारे में जानेंगे और 'जयशंकर प्रसाद विरचित 'ध्रुवस्वामिनी' भारतेन्दु कृत 'चन्दावली नाटिका' और 'हिन्दी के श्रेष्ठ निबन्ध' तथा 'एकाँकी वैभव' का भी अध्ययन करेंगे । 'कहानी कौस्तुभ' नामक कहानी संकलन का भी अध्ययन करेंगे । इसके अलावा आप 'जैनेन्द्र' कृत 'त्याग पत्र' तथा भीष्म साहनी का 'तमस' उपन्यासों के बारे में भी जानकारी प्राप्त करेंगे ।

ब्लाक - एक में आप हिन्दी निबंध साहित्य, आचार्य शुक्ल और उनके निबंध - 'श्रद्धा-भक्ति' और 'उत्साह', हजारीप्रसाद द्विवेदी और उनके निबंध, विष्णु प्रभाकर के निबंध तथा विद्यानिवास मिश्र और उनके निबंध के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे ।

शुभकामनाओं के साथ,

डॉ.कांबले अशोक
अध्यक्ष,
हिन्दी अध्ययन एवं अनुसंधान विभाग
क. रा. मु. वि. विद्यालय,
मैसूर - 6

इकाई एक : हिन्दी निबंध साहित्य

इकाई की रूपरेखा

1.0. उद्देश्य

1.1. प्रस्तावना

1.2. निबंध का जन्म

1.3. भारतेंदु-युग

1.4. भारतेंदु के सहयोगी निबंधकार

1.4.1. पं.प्रतापनारायण मिश्र

1.4.2. बालमुकुन्द गुप्त

1.4.3. अन्य निबंधकार

1.5. द्विवेदी-युग

1.6. द्विवेदी युगीन अन्य प्रमुख निबंधकार

1.7. शुक्ल-युग

1.8. शुक्लोत्तर युग

1.9. समाहार

1.10. बोध प्रश्न

1.0. उद्देश्य

इस इकाई के अंतर्गत हिन्दी-साहित्य में निबंध के विकास-क्रम पर विचार किया जा रहा है, जिसके अध्ययन के उपरांत आप -

1. निबंध-साहित्य के जन्म तथा विकास से अवगत होंगे ;
2. भारतेंदु-युग के इस क्षेत्र में महत्व को समझ पायेंगे ;
3. द्विवेदी-युग की महत्तर देन से परिचित होंगे ;
4. भारतेंदु तथा द्विवेदी युगीन प्रमुख निबंधकारों की जानकारी प्राप्त करेंगे ;
5. शुक्ल-युग के योगदान से परिचित होंगे ;
6. शुक्लोत्तर युग की महत्ता से परिचित होंगे ;
7. हिन्दी-निबंध साहित्य की संपूर्ण जानकारी प्राप्त करेंगे ।

1.1. प्रस्तावना

हिन्दी गद्य का आरंभिक विकास पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हुआ, जिसने निबंध और आलोचना की नई गद्य-विधाओं को जन्म दिया । प्रथम स्वतंत्र निबंध के रूप में राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद के निबंध 'राजा भोज का सपना' को हिंदी का पहला मौलिक निबंध माना जाता है । भारतेंदु और उनके समकालीन लेखकों ने निबंध को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया और निबंध-लेखन की एक स्वस्थ सुव्यवस्थित परंपरा चल पड़ी । भरतेंदु-युग के निबंधकार विभिन्न समस्याओं और समाज के प्रति अपने दायित्व से पूर्णतः परिचित थे । अतएव उनके निबंध इन्हीं समस्याओं से संबंधित थे । इनका विषय-क्षेत्र अत्यंत व्यापक रहा । तदुपरांत द्विवेदी-युग के निबंध समष्टि रूप से राष्ट्रीय जागृति, मानवतावाद, विश्वप्रेम, सामाजिक एकता, अतीत गौरव, देशप्रेम, सांस्कृतिक पुनरूत्थान तथा भाषा-परिष्कार की भावनाओं से ओतप्रोत थे । उसके बाद शुकल-युग में निबंध-लेखन के स्तर का उन्नयन और विषयों का विस्तार हुआ । विवेचन में अधिक मौलिकता और गंभीरता आई । निजी अनुभूतियों और भावनाओं के निबंध रूप में अंकन की एक नई शैली का जन्म हुआ । शक्लोत्तर युग में विभिन्न शैलियों में शुक्लजी की परंपरा को

विकसित किया गया और नई-नई चिंतनधाराओं का आविर्भाव हुआ । इस इकाई में निबंध-साहित्य की विशद चर्चा की जायेगी ।

1.2. निबंध का जन्म

निबंध, गद्य में ही लिखा जाता है, इसलिए हिन्दी-साहित्य में आधुनिक-काल से पूर्व इसका कोई अस्तित्व नहीं मिलता । पहले जब साहित्य के क्षेत्र में गद्य का ही प्रचलन नहीं था तो निबंन्ध की कल्पना ही असम्भव थी । हिन्दी में जब गद्य का प्रयोग होने लगा तो इसका पहला रूप लघु निबंधों और टिप्पणियों के रूप में सामने आया । ये निबंध और टिप्पणियाँ नवोदित हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में सम्पादकों द्वारा लिखी जाती थीं । इस प्रकार निबंध का आरम्भिक रूप पत्रकारिता से प्रभावित रहा । उन्नीसवीं सदी के आरम्भ से लेकर भारतेंदु तक का समय प्रधानतः पत्रकारिता का ही युग था । उस समय भारतीय समाज में एक नवीन संस्कृतिक और राजनीतिक चेतना का उदय हो रहा था । इस नवीन चेतना का प्रतिनिधित्व तत्कालीन पत्र-पत्रिकाएँ - 'बनारस अखबार', 'प्रजा हितैषी', 'बंगदूत', 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका', 'ब्राह्मण', 'सार-सुधानिधि', 'प्रदीप' आदि कर रही थीं । इन पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक गण इनमें छोटे-छोटे सामयिक विषयों और समस्याओं से सम्बन्धित निबंध लिखा करते थे । इसी कारण हिन्दी के आरम्भिक निबंध पत्रकारिता से प्रभावित रहे ।

हिन्दी के ये आरम्भिक निबंध अपने रूप-विधान में अंग्रेजी के उन निबंधों से अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित रहे जो अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते थे । अंग्रेजी में उस समय दो प्रकार की निबंध-शैलियों का विकास हो रहा था - वैयक्तिक अर्थात् व्यक्तित्व-प्रधान तथा निर्वैयक्तिक । अब्राहम काउली, जोनाथन स्विफ्ट, चार्ल्स लैम्ब, स्टीवेन्सन, हैजलिट, स्टील, गोल्ड स्मिथ, ली हन्ट आदि व्यक्तित्व प्रधान निबंध लिखते थे और बेकन, बेन जानसन, एडीसन, जेफरी, मैकॉले, वाल्टर पेटर आदि विचार प्रधान निर्वैयक्तिक

शैली के निबंध लिख रहे थे । हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के तत्कालीन सम्पादक तथा अन्य लेखक अंग्रेज़ी के इस निबंध-साहित्य से परिचित थे । इसलिए उन्होंने निबंध की इन दोनों की शैलियों को आधार बनाकर आरम्भिक निबंध लिखे थे । किसी भी नए साहित्य रूप का, जब वह हमारे साहित्य में पहले था ही नहीं, आधार तो कहीं-न-कहीं से ग्रहण करना ही था और उस समय अंग्रेजी के निबंध ही सुलभ थे, इसलिए उन्हीं का आधार ग्रहण किया गया । शैली अवश्य अंग्रेजी-निबंधों की-सी ही रही, परन्तु विषय युग और परिस्थितियों के अनुरूप नए और मौलिक अपनाए गए । इस प्रकार हिन्दी के आरम्भिक निबंध रूप और शैली की दृष्टि से अंग्रेजी निबंधों से न्यूनाधिक रूप में प्रभावित अवश्य रहे, परन्तु विषय की दृष्टि से मौलिक और स्वतन्त्र थे ।

हिन्दी में निबंध-लेखन का आरम्भ भारतेंदु के समय से ही मानना चाहिए । उस समय से लेकर आज तक हिन्दी में प्रचुर परिमाण में निबंध लिखे जाते रहे हैं । हिन्दी-निबंध की इस विशाल और समृद्ध परम्परा का सुचारू और क्रमिक अध्ययन करने के लिए उसे उसके विकास की दृष्टि से अग्रलिखित काल-खंडों में विभाजित करने से अधिक सुविधा रहेगी -

1. भारतेंदु युग या आरम्भिक प्रयास .... सन् 1857 - 1900
2. द्विवेदी-युग या व्यवस्था क काल .... सन् 1900 - 1920
3. शुक्ल-युग या उत्कर्ष का काल .... सन् 1920 - 1940
4. आधुनिक-युग या शुक्लोत्तर युग .... सन् 1940 - आज तक ।

1.3. भारतेंदु-युग

भारतेंदु लेखकों के प्रेरणा-स्रोत और नेता थे । वास्तव में भारतेंदु उस युग की समस्त साहित्यिक गतिविधियों के मुख्य संचालक-सूत्र थे । वह अपने युग के 'साहित्यिक युग पुरूष' थे । उन्होंने विविध प्रकार के निबंध लिखकर एक ओर निबंध-साहित्य का भण्डार भरा था और दूसरी ओर अपने सहयोगियों को अनुप्रेरित

किया था । उन्होंने इतिहास, धर्म, समाज, राजनीति, नाटक, आलोचना, भाषा, यात्रा, प्रकृति वर्णन, आत्मचरित, व्यंग्य-विनोद आदि विभिन्न विषयों पर प्रचुर परिमाण में निबंध लिखे थे । परंतु उनके ये निबंध बहुत समय तक, एक स्थान पर संग्रहित न होकर इधर-उधर बिखरे पड़े रहे । सम्भवतः इसी कारण डा.श्री कृष्णलाल ने भारतेंदु को हिन्दी का प्रथम निबंध-लेखक न मान पं.बालकृष्ण भट्ट को माना है । वस्तुतः भारतेंदु ही हिन्दी के प्रथम आधिकारिक निबंध लेखक थे । उनके निबंधों में विषय और शैली की दृष्टि से पूरा वैविध्य है । इनकी नाटकीय शैली और स्तोत्र का ढंग बड़ा प्रभावात्मक है । इन्होंने अपने स्तोत्रों में विभिन्न प्रकार के सम्बोधनों, व्यंजक विशेषणों, विलक्षण आरोपों, रूपकों के अनोखे बन्धनों और अतिशयोक्तियों द्वारा अद्‌भुत चमत्कार और प्रभाव उत्पन्न कर दिया है । साधारण विषयों का वर्णन करते हुए अपनी व्यंग्य-विनोद की शैली का समावेश कर भारतेंदु उसे गहरा और प्रभावकारी व्यग्य कस जाते थे कि पाठक और समर्थक खिलखिला उठते थे और जिन पर व्यंग्य कसा जाता था, वे तिल मिला उठने पर भी कुछ कह या कर न पाते थे । उनके एक यात्रा-सम्बन्धी निबंध का एक ऐसा ही व्यंग्य द्रष्टव्य है - ''गाड़ी भी ऐसी टूटी-फूटी जैसे हिन्दुओं की किस्मत और हिम्मत । ..... अब तो तपस्या करके गोरी-गोरी कोख से जन्म लें तब ही संसार में सुख मिले ।'' भारतेंदु ने शैली के क्षेत्र में, विषय के अनुरूप सरल और गम्भीर-दोनों प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया था । 'लेवी प्राण लेवी', 'पाँचवें पैगम्बर', 'अंग्रेज-स्तोत्र', 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन', 'कंकड स्तोत्र', आदि निबंधों में व्यंग्य-विनोद मिश्रित सरल सहज शैली का रूप मिलता है और 'नाटक', 'वैष्णवता और भारतवर्ष' जैसे गम्भीर विषयों से सम्बन्धित निबंधों में गम्भीर विवेचनात्मक शैली और प्रौढ़ भाषा का । परंतु सुबोधता दोनों ही शैलियों का प्रधान गुण रहा है ।

1.4. भारतेंदु के सहयागी निबंधकार

भारतेंदु के समय में ही विभिन्न पत्रों के सम्पादकों के रूप में,

हिन्दी में, ऐसे निबंधकार सामने आए जिनका प्रधान स्वर राष्ट्रीयता का था । इन्होंने छोटे-छोटे निबंध लिखकर भारतीयता, भारतीय संस्कृति, समाज आदि के उन्नयन का नारा लगाया । यह सम्पूर्ण युग-एक अपूर्व राष्ट्रीय चेतना का युग था । इन निबंधकारों में पं.बालकृष्ण भट्ट, पं.प्रतापनारायण मिश्र, बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन', पं.अम्बिकादत्त व्यास, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, पं.राधाचरण गोस्वामी आदि प्रमुख थे । इनमें से हम बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त की वृहद्त्रयी को इस काल के निबंधकारों का प्रतिनिधि मान सकते हैं । ये तीनों ही अपने समय के अनन्य जागरूक, कर्मठ और त्यागी पत्रकार थे । भट्ट जी ने सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक आदि विभिन्न विषयों पर अनेक निबंध लिखे जो 'भट्ट निबंधावली' में संग्रहीत हैं । इन निबंधों में गाम्भीर्य और विनोदप्रियता-दोनों ही गुण एक साथ मिल जाते हैं । वे अपनी बात को हास्य-व्यंग्य में लपेट रोचक और सुबोध रूप में प्रस्तुत करने में अत्यंत पटु थे । वे हास्य को बहुत महत्व देते थे । 'सरस्वती' की गम्भीरता-मिश्रित नीरसता की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा था कि - ''सच पूछो तो हास्य ही लेख का जीवन है । लेख पढ़ कुन्द कली के समान दाँत न खिल उठे तो वह लेख ही क्या !'' इनके निबंध समाज और जीवन के विभिन्न पक्षों और समस्याओं को अपना विषय बनाकर चले हैं, जैसे - 'इंगलिश पढ़े तो बाबू होय', 'मेला ठेला', 'वकील', 'आत्म-निर्भरता', 'सहनुभूति', 'आशा', 'खटका' आदि । भट्ट जी अपने निबंधों के माध्यम द्वारा अपने पाठकों से आत्मीयता स्थापित करना चाहते हैं, परन्तु शालीन ढंग से । विषय-भिन्नता के साथ ही इनकी शैली भी भिन्न रूप धारण कर लेती है । इसी कारण इनकी शैली के विश्लेषणात्मक, व्याख्यात्मक, भावात्मक आदि भिन्न रूप मिलते हैं । इनके विचारप्रधान निबंध तर्क-पुष्ट शैली में व्यवस्थित ढंग से लिखे गये हैं । कहीं-कहीं भावात्मक शैली के भी दर्शन हो जाते हैं । इनका व्यंग्य अधिक सूक्ष्म और सांकेतिक न होने के कारण पर्याप्त तीखा नहीं बन पाता । इन्होंने लगभग 33 वर्ष तक 'हिन्दी-प्रदीप' नामक पत्र का संचालन,

प्रकाशन और सम्पादन किया था, जिसके लिए इन्हें घोर कर्म-तपस्या और त्यागमय जीवन बिताने के लिए बाध्य होना पड़ा था । प्रोफेसर जयनाथ 'नलिन' भटट् जी को अपने युग का सर्वोत्कृष्ट निबंध-शिल्पी मानते हैं ।

1.4.1. पं.प्रतापनारायण मिश्र

अत्यंत मनमौजी और मस्त लेखक थे । उनकी सी मस्ती और उल्लास उस काल के किसी भी अन्य लेखक में नहीं मिलता । वे किसी भी प्रकार के विधि-निषेधों को स्वीकार न कर मन की तरंग के प्रवाह में बहते हुए स्वच्छन्द रूप से लिखते थे । इसी कारण उनकी भाषा और शैली में पूर्ण स्वाभाविकता, सजीवता और सरसता रहती थी । उन्होंने गम्भीर विषयों का बहुत ही कम स्पर्श किया है । वे अपनी सरल ग्रामीणता को यथावत् बनाए रख बेतकल्लुफी के साथ अपने पाठकों से बाते करते थे । जैसे, उनका यह निबंध कि - 'तो भला बतलाइए तो आप क्या हैं ?'' वे कहावतों, मुहावरों, श्लेष और अनुप्रास के चमत्कार द्वारा अपनी बात में एक ऐसा सहज और प्रबल आकर्षण उत्पन्न कर देते हैं कि पाठक उनके साथ आत्मीयता अनुभव करने लगता है । वस्तुतः वे व्यक्तिनिष्ठ शैली के निबंधकार थे । विषय जो मन में आया, उठा लिया । निबंध का विषय उनकी विचारधारा को नियंत्रित न कर स्वयं ही विचारधारा से नियन्त्रित रहता है । शुक्ल जी ने उनकी स्वच्छन्द शैली पर ग्रामीणता का दोष लगाया है । वस्तुतः उनकी सहजता और अकृत्रिमता ही कुछ लोगों को ग्रामीण प्रतीत हुई है । मिश्र जी ने अपने युग की प्रवृत्ति के ही अनुरूप साधारण और गम्भीर विषयों को अपनाया है परन्तु बहुलता साधारण विषयों की हो रही है ; जैसे - 'बात', 'वृद्ध', 'भौं', 'दाँत', 'पेट', 'समझदार की मौत है', 'टेढ़ जान शंका सब काहू', 'होली है या होरी है' आदि । गम्भीर विषयों से सम्बन्धित निबंध 'मनोयोग', 'प्रताप-चरित्र', 'ईश्वर की मूर्ति', 'नास्तिक' आदि माने जा सकते हैं । परन्तु उनकी हास्य-व्यंग्यपूर्ण स्वाभाविक शैली सर्वत्र प्रायः एक-सी ही

रही है । भाषा-दोष आदि रहने पर भी मिश्रजी की शैली आकर्षित करती है ।

1.4.2. बालमुकुन्द गुप्त

ये उस समय साहित्य-क्षेत्र में उतरे थे जब भारत का प्रभापूर्ण इन्दु अस्त हो चुका था, भारतेंदु स्वर्गवासी हो गए थे । इसलिए इस काल तक के सम्पूर्ण कृतित्व को दाय के रूप में स्वीकार कर विकसित चेतना और भाषा के साथ गुप्तजी 'बंगवासी', 'भारत मित्र' जैसे पत्रों के सम्पादक के रूप में सामने आए । उन्होंने गद्य को परिमार्जित कर उसे प्रांजलता प्रदान की । उन्होंने सर्वप्रथम हिन्दी समाचार-पत्र और पत्रिकाओं का इतिहास प्रस्तुत किया ; गद्य-भाषा के व्याकरणिक रूप का विवेचन किया । उनके द्वारा सम्पादित 'बंगवासी' 'भाषा गढ़ने की टकसाल', कहलाता था । गद्य-शैली के स्वरूप को लेकर उनमें और आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी में कई वर्ष तक खूब नोंक-झोंक चलती रही । विषय की दृष्टि से उन्होंने हिन्दी-भाषा, लिपि, व्याकरण, राष्ट्रभाषा, जीवन-चरित, राजनीतिक व्यंग्य आदि विभिन्न विषयों पर लिखा थॉ । इनका व्यंग्य शालीन, सांकेतिक और व्यंजक रहते हुए इतना सन्तुलित और तीखा होता था कि अंग्रेज शासक उसे पढ़ तिलमिला उठते थे परन्तु उन्हें कानून के शिकंजे में जकड़ने में असमर्थ रहते थे । इनके ऐसे लघुनिबन्ध 'शिव-शम्भु के चिट्ठे' शीर्षक से निकलते थे, जिनमें विदेशी शासक लार्ड कर्जन और उसकी नौकरशाही पर बड़े चुभते, तीखे व्यंग्य कसे जाते थे । इनमें एक ऐसी नाटकीयता थी जो मर्म पर आघात करती है । गम्भीर बातों को विनोदपूर्ण ढंग से कहते-कहते अपने हृदय का क्षोभ और दुःख व्यक्त कर देने में इनकी लेखनी का चरमोत्कर्ष दिखाई पडता है । वस्तुतः उस युग में इनकी सी राजनीतिक चेतना अन्य किसी भी हिन्दी लेखक में नहीं मिलती ।

1.4.3. अन्य निबंधकार

इस युग के अन्य निबंधकारों में **पं.राधाचरण गोस्वामी** के निबंधों में सामाजिक कुरीतियों पर गहरा व्यंग्य मिलता है । उन्होंने

शहद जैसे मीठे, हास्य में लिपटे और कल्पना से रंगीन बने व्यंग्यों द्वारा कबीर के समान समाज, धर्म आदि पर गहरे आक्रमण किए हैं । **चौधरी बदरीनारायण उपाध्याय 'प्रेमघन'** ने रोचक, भावात्मक, वर्णनात्मक, विचारात्मक आदि विभिन्न शैलियों में, संस्कृत गर्भित भाषा में विविध विषयों पर अनेक सुन्दर निबंध लिखे थे । **ठाकुर जनमोहन सिंह** ने अलंकृत, अनुप्रासमयी भाषा में भावुकता का पुट देते हुए अनेक वर्णनात्मक निबंध लिखे जिनमें प्रकृति के अनेक मनोरम चित्र अंकित हुए हैं । इनकी शैली संस्कृत गर्भित, काव्यात्मक ओर अलंकृत अधिक रही है । उसमें कहीं-कहीं बाण की 'कादम्बरी' की शैली जैसी छटा दिखाई पड़ती है । **अम्बिकादत्त व्यास** ने संस्कृत के प्रकांड पंडित होते हुए भी अत्यन्त सरल और सुबोध शैली में अनेक निबंध लिखे । इनके निबंधों का संग्रह 'साहित्य-नवगीत' शीर्षक से सन् 1899 में प्रकाशित हुआ था । इस युग में अनेक अन्य विद्वानों ने भी विभिन्न सामयिक, साहित्यिक आदि समस्याओं पर अनेक निबंध लिखे थे । इनमें **काशीनाथ खत्री, पं.मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या, हरिमुकुन्द शर्मा, मुरलीधर प्राठक, महादेव दुबे, भानुदत्त, गणेशदत्त शर्मा, गोविन्दराम प्रभाकर, हरिश्चन्द्र उपाध्याय** आदि उल्लेखनीय हैं ।

डॉ.रामविलास शर्मा ने निबंध-क्षेत्र में इनकी इस सफलता का विश्लेषण करते हुए लिखा है -

''इसका एक कारण यह था कि पत्रिकाओं में नित्यप्रति लिखते रहने से उनकी शैली खूब निखर गई थी । दूसरी बात यह कि (उस युग में) निबंध ही एक ऐसा माध्यम था, जिसके द्वारा उस युग के धक्कड़ लेखक बेतकल्लुफी से अपने पाठकों से बात कर सकते थे ।.....उस युग के लेखक तटस्थ रहते हुए अपनी बात पाठक से कह कर सन्तोष न कर सकते थे । वे उससे आत्मीयता का सम्बन्ध स्थापित करना चाहते थे और एक मित्र की भाँति घुल-मिलकर उसे अपनी बातें समझाना चाहते थे ।.....साहित्य की सच्छी सप्राणता उस शैली में है जहाँ लेखक और पाठक के बीच

कोई दुराव नहीं रह जाता । सहज आत्मीयता के भाव ने भाषा को खूब स्वाभाविक बना दिया । कृत्रिम शैली में लेखक पाठक का आत्मीय बन ही नहीं सकता । इसीलिए भारतेंदु-युग की गद्य-शैली के सबसे चमत्कारपूर्ण निदर्शन निबंधों में ही मिलते हैं ।''

1.5. द्विवेदी-युग

भारतेंदु-युग वृद्धि, फैलाव, विषय-वैविध्य और भाषा के परिमार्जन का युग था । वह एक नई चेतना का युग था, जिसमें प्रेरक हलचल और अमित उत्साह का प्राधान्य था । वहाँ अपनी बात सरलतापूर्वक कह देना ही एकमात्र लक्ष्य था । इसी कारण उसकी भाषा, शैली और विषय-चयन में एक स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति मिलती है । उस काल के साहित्यकार ऐसे मेधावी छात्रों के समान थे, जिनमें कुछ नया कर गुजरने की अटूट लालसा भरी हुई थी । और यह 'कुछ कर गुजरने' की लालसा देश-दशा से प्रगाढ़रूपेण सम्बद्ध थी । इसका रूप उन्मुक्त और स्वच्छन्द था । परंतु 'सरस्वती' सम्पादक के रूप में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने जब साहित्य-जगत में प्रवेश किया तो उनके अभिजातवर्गीय स्वभाव को यह उन्मुक्तता और स्वच्छन्दता नहीं भा सकी । अतः उन्होंने साहित्य और साहित्यकारों का नियमन करना आरम्भ कर दिया । उन्होंने लेखकों से कहा कि हमें शालीन ढंग से, सुव्यवस्थित भाषा और शैली में अपनी बात कहनी चाहिए । इस नई प्रवृत्ति के उदय का एक कारण यह था कि बीसवीं सदी के आरम्भ तक शिक्षित लोगों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हो चुकी थी । विदेशी शिक्षा-प्रणाली ने हमारे शिक्षित-वर्ग में अपने विशिष्ट महत्व और श्रेष्ठता की भावना उत्पन्न कर दी थी । अब शिक्षित लेखक या पाठक स्वयं को जन-साधारण से भिन्न मान शालीन, शिष्टतापूर्ण ढंग से बात कहना और सुनना चाहने लगा था । यह समाज का परिवर्तित वातावरण था जिसमें भारतेंदु-युगीन स्वच्छन्दता को हेय दृष्टि से देखा जाने लगा था । इस नई दृष्टि ने हमारे साहित्य की स्वच्छन्दता को नष्ट कर उसे विशिष्ट और अभिजातवर्गीय बनाने की प्रक्रिया आरम्भ कर दी और द्विवेदी जी इस प्रक्रिया के संचालक बन गए ।

द्विवेदीजी ने सबसे पहले भाषा की शुद्धता और शब्द-समृद्धि की ओर ध्यान दिया । उसके उपरान्त नैतिकतापरक उपयोगिता का प्रचार किया । फिर साहित्य की आलोचना की ओर ध्यान दिया । द्विवेदीजी का उपदेश यह था कि शुद्ध, व्याकरण-सम्मत भाषा में ऐसे साहित्य का सृजन किया जाय जिसमें उच्च मानवीय गुणों का आदर्शपरक अंकन हो । इस दृष्टिकोण ने मानव की सहज, सरस उन्मुक्त, उल्लासमय भावनाओं की अभिव्यक्ति पर अंकुश लगा दिया । प्रेम जैसी भावना के उल्लासमय चित्रण को अश्लील माना जाने लगा । अर्थात् द्विवेदीजी ने हिन्दी साहित्य की स्वच्छन्दता को दूर कर उसे सभ्य और नागरिक बनाने का प्रयत्न किया । सभ्यता का आवरण ओढ़े हुए नागरिकता मानव के नैसर्गिक, स्वच्छन्द उन्मुक्तता भरे उल्लास को पंगु बना देती है । उसके व्यवहार में कृत्रिमता और प्रदर्शन की भावना प्रबल होने लगती है । द्विवेदीजी ने हिन्दी साहित्य को इसी अर्थ में सभ्य और नागरिक बनाने का प्रयत्न किया था । उसका प्रभाव तत्कालीन निबंध साहित्य पर गहरा पड़ा । द्विवेदीजी के अतिशय नैतिकतावादी आदर्शपरक दृष्टिकोण ने निबंध के मुखर उल्लासमय रूप को अवरूद्ध कर निबंध-क्षेत्र में एकाएक एक अप्रत्याशित परिवर्तन कर दिया । अब निबंध की वह आत्मीयता नष्ट हो गई, जो भारतेंदु-युग के निबंधों की अपनी निराली विशेषता थी । अब निबंध सूक्ष्म, सांकेतिक, व्यंग्य की शैली को त्याग उपदेशक आचार्य बन गया । इससे ज्ञान-विस्तार की प्रवृत्ति बढ़ी । विषय-विभिन्नता के कारण भाषा की शक्ति में विकास हुआ । पुरातत्व और आलोचना सम्बन्धी नई शैली के निबंध लिखे जाने लगे । अंग्रेजी, मराठी आदि विभिन्न भाषाओं के सुन्दर निबंधों के हिन्दी में अनुवाद हुए । वस्तुतः 'सरस्वती' और 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन के साथ हिन्दी-निबंध का द्वितीय उत्थान प्ररम्भ हुआ जिसमें पर्याप्त गाम्भीर्य और विस्तार तो था परंतु निबंध के सहज, उल्लासमय रूप का हनन हो गया । वस्तुतः इस युग के निबंधों को 'निबंध' न कह कर 'लेख'कहना ही अधिक संगत प्रतीत होता है क्योंकि ज्ञानवर्द्धन इनका प्रधान उद्देश्य था ।

इस युग में द्विवेदीजी ने स्वयं अनेक प्रकार के निबंध लिखे जो 'ज्ञान-राशि के संचित कोश' बनकर रह गए । द्विवेदीजी ने बेकन के समान निबंधों में विचार के प्राधान्य को स्वीकार कर ऐसे निबंध लिखे जिनमें तत्व-विवेचन की ही प्रमुखता रही । उनके 'कवि और कविता', 'कविता', 'साहित्य की महत्ता', 'प्रतिभा', 'क्रोध', 'लोभ', 'उपन्यास', 'नाटक' आदि निबंधों में सम्बन्धित विषयों का सरल और सुबोध शैली में तात्विक विवेचन ही अधिक किया गया । उनके इन निबंधों में भाषा की शुद्धता, सार्थकता, शब्द-प्रयोग-पटुता आदि गुण तो प्रचुर मात्रा में मिलते हैं परन्तु चिन्तन की मौलिकता, विश्लेषण की गम्भीरता, सूक्ष्म निरीक्षण तथा सरसता और व्यंग्य का अभाव है । इसी कारण उनके निबंधों को साधारण ज्ञानराशि का संचित कोश तो माना जा सकता है परन्तु निबंध की सहज आत्मा उनमें नहीं मिलती । वैयक्तिकता, रोचकता , सजीवता और सहज स्वच्छन्दता के गुणों से उनके निबंध वंचित रहे हैं ।

1.6. द्विवेदी-युगीन अन्य प्रमुख निबंधकार

द्विवेदी-युग के अन्य प्रमुख निबंधकारों में **पं.माधवप्रसाद मिश्र, पं.चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, बाबू गोपालराम गहमरी, बाबू ब्रजनन्दन सहाय, पं.पद्मसिंह शर्मा, अध्यापक पूर्णसिंह, गणेश शंकर विद्यार्थी, गंगाप्रसाद अग्निहोत्री** आदि ऐसे निबंधकार हैं जो एक प्रकार से द्विवेदीजी के साहित्यिक सिद्धांतों और दृष्टिकोण से प्रभावित रहे हैं । इनमें से भी तीन निबंधकार ऐसे उच्चकोटि के हुए हैं जो अपनी विशिष्ट शैली और प्रतिभा के कारण दूसरों से नितांत भिन्न दिखाई पडते हैं । उनकी विशिष्टता केवल उन्हीं तक सीमित होकर रह गई है । ये तीन निबंधकार हैं - पं.माधवप्रसाद मिश्र, पं.चंद्रधर शर्मा गलेरी और अध्यापक सरदार पूर्णसिंह ।

मिश्रजी के निबंधों का विषय-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक रहा है । उन्होंने पर्व-त्यौहार, पुरातत्व, साहित्य, राजनीति, संस्कृति, भूगोल, जीवन-चरित्र आदि विभिन्न विषयों पर बड़ी रोचक शैली में अत्यन्त

सारगर्भित निबंध लिखे हैं, जो 'माधव मिश्र निबंध माला' में संग्रहीत हैं । इनके निबंधों में भारतीय पर्व-त्यौहारों और तीर्थस्थानों के प्रति अतीव निष्ठा के साथ देशप्रेम और सनातन धर्म के प्रति अटूट आस्था के दर्शन होते हैं । इनके 'सब मिट्टी हो गया' जैसे निबंधों में एक उच्चकोटि के मार्मिक निबंधकार का रूप मिलता है । इनकी शैली भाव-प्रवण, रोचक और कहीं-कहीं अत्यन्त गम्भीर और विचारोत्तेजक बन जाती है । विचार और शैली की दृष्टि से **गुलेरी जी** को इस युग का सर्वाधिक प्रगतिशील निबंधकार माना जा सकता है । इनके निबंधों में अध्ययन की गम्भीरता और विचारों की नवीनता एक ऐसी सरस, आकर्षक शैली में प्रस्तुत होती है जो पाठक को सहज ही अपनी ओर आकर्षित कर लेती है । इनका व्यंग्य अत्यन्त मार्मिक और तीखा होता है । इस युग के लेखकों में सबसे अधिक विकसित ऐतिहासिक और सांस्कृतिक चेतना इन्हीं में मिलती है । 'कछुआ धरम', 'मारेसि मोहि कुठाँव', और 'संगीत' जैसे निबंधों में अनकी चमत्कारपूर्ण शैली का पूर्ण उभार मिलता है । ये विभिन्न प्रसंगों, सम्भाषणों, लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग कर एक ओर तो शैली की रोचकता को बढ़ा देते हैं और साथ ही, उस पर अपने व्यक्तित्व की अद्‌भुत छाप डाल उसे वैयक्तिक कोटि की शैली बना देते हैं । परंतु खेद है कि गुलेरी जी की प्रसिद्धि केवल उनकी अमर कहानी - 'उसने कहा था' तक ही सीमित होकर रह गई है । उनके निबंधों का अपेक्षित प्रचार नहीं हो पाया है ।

अध्यापक सरदार पूर्णसिंह ने एक नई गति और लय के निबंधों की परम्परा को नए मानवतावादी मार्ग की ओर उन्मुख किया । वे सभ्य आचरण और प्रेम तथा परिश्रम द्वारा समाज का क्ल्याण होना मानते थे । उन्होंने 'श्रम' की अत्यन्त भावपूर्ण व्याख्या कर, श्रम के मूल में आत्मीयता, स्नेह ओर कोमलता की भावना को प्रमुख माना था, न कि केवल अर्थ अर्जन को । स्वतन्त्र चिन्तन, स्पष्ट सरस भाव-प्रवण अभिव्यक्ति, लाक्षणिकता और व्यंजकता का समावेश कर उन्होंने निबंध का एक सर्वथा नवीन रूप प्रस्तुत किया था, जिसका आगे विकास नहीं हो सका । 'आचरण की सभ्यता',

'मजदूरी और प्रेम', 'कन्यादान', 'पवित्रता', 'ब्रह्म-क्रान्ति' आदि इनके ऐसे ही अद्‌भुत, अद्वितीय निबंध हैं जिन पर कोई भी साहित्य गौरव कर सकता है । इनकी भाषा में एक नवीन लक्षणा और व्यंजना शक्ति का अद्‌भुत चमत्कार मिलता है । भावों को मूर्त्त रूप देने की इनकी क्षमता अपूर्व है । इनके निबंध 'प्रभावाभिव्यंजक' शैली के माने जाते हैं क्योंकि सजिव चित्रोपम वर्णन, मार्मिक भाव-व्यंजना, गम्भीर विचार संकेत और भाषा की ओजस्विता इनमें एक विशिष्ट प्रभाव और सौन्दर्य का समावेश कर देती है । स्वाधीन प्रगतिशील चिन्तन, सबल मधुर अनुरोध, प्रभावशाली व्यक्तित्व, निश्छल निर्मल अनुभूति, ममतापूर्ण आत्मीयता से इनके निबंध आपूरित हैं । मिली-जुली भाषा का मनोहर रूप उनमें एक अद्‌भुत कान्ति और प्रेषणीयता भर देता है ।

डॉ.श्यामसुनदर दास, बाबू गुलाबराय और मिश्रबन्धु भी प्रधानतः इसी युग और श्रेणी के निबंधकार हैं परन्तु ये तीनों द्विवेदीजी की मान्यताओं से प्रभावित न होकर स्वतन्त्र रूप से लिखते थे । **डॉ.श्यामसुन्दर दास** ने 'समाज और साहित्य', 'कला का विवेचन', 'कर्तव्य और सभ्यता' आदि गम्भीर आलोचनात्मक निबंध लिखे । इन निबंधों में पांडित्यपूर्ण ओज और अर्जित एवं संकलित ज्ञान का गाम्भीर्य मिलता है । विचारों की सुचारू अभिव्यक्ति को ही इनके निबंधों का एक विशिष्ट गुण माना जा सकता है । **मिश्र-बन्धुओं** के निबंध भी शिक्षामूलक ही अधिक रहे हैं । उनके निबंधों में एक विद्वान शिक्षक का अहं सहज रूप में दिखाई पडता है । **बाबू गुलाबराय** ने निबंध-लेखन द्विवेदी युग में ही आरम्भ कर दिया था और सन् 1960 तक लिखते रहे । इन्होंने अपने आरम्भिक काल में 'समाज और कर्त्तव्य-पालन' तथा अनेक आलोचनात्मक साहित्यिक निबंध लिखे थे परन्तु उनमें वह रोचकता और प्रभाव नहीं मिलता जो उनके परवर्ती काल में लिखे गए 'फिर निराशा क्यों', 'मेरी कलम का राज', जैसे विनोदमयी शैली में लिखे संस्मरणात्मक निबंधों में मिलता है । ये निबंध सच्चे अर्थों में उच्चकोटि के निबंध हैं । **पद्‌मसिंह शर्मा** के

फड़कती शैली में लिखे गए निबंधों में भावुकता और व्यंग्य दर्शनीय है ।

इस युग के अन्य निबंधकारों में **पदुमलाल पन्नालाल बख्शी, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, यशोदानन्दन अखौरी, किशोरीदास वाजपेयी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, बाबू शिवपूजन सहाय, डॉ. भगवानदास, बनारसीदास चतुर्वेदी, मोहनलाल महतो** आदि उल्लेखनीय हैं । इन लोगों में से कुछ ने द्विवेदी युग में लिखना आरम्भ किया था और बाद में लिखते रहे । परंतु इनमें से अधिकांश अन्य साहित्यिक विधाओं, व्याकरण, भाषा-शास्त्र, संस्मरण, यात्रा आदि से सम्बन्धित साहित्यिक रचनाओं के रचयिताओं के रूप में ही अधिक प्रसिद्ध रहे हैं, न कि निबंधकार के रूप में ।

1.7. शुक्ल-युग

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ निबंधकार माने जाते हैं । बाबू गुलाबराय के अनुसार - ''आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबंध-क्षेत्र में पदार्पण कने से निबंध-साहित्य में एक नया जीवन आया । द्विवेदी-युग में विषय विस्तार और परिमार्जन तो पर्याप्त हुआ किन्तु उस काल में उतना विश्लेषण और गहराई में जाने की प्रवृत्ति न उत्पन्न हो सकी ।'' शुक्ल जी के रूप में हिन्दी को सर्वप्रथम एक अत्यन्त उच्चकोटि का महान निबंधकार मिला । उनके श्रेष्ठ निबंध 'चिन्तामणि' (प्रथम भाग) में संग्रहीत हैं । जब बनारस विश्वविद्यालय में हिन्दी को उच्च पाठ्यक्रम में स्थान मिला तो उसके लिए उच्चकोटि के साहित्यिक निबंधों की आवश्यकता अनुभव की गई । कहा जाता है कि शुक्ल जी ने उसी आवश्यकता की पूर्ति के हेतु निबंध लिखे थे । सत्य चाहे जो कुछ भी रहा हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ये निबंध नए विचार, नवीन अनुभूति और नई शैली के साथ निबंध-क्षेत्र में उतरे थे और उतरते ही इन्होंने अपनी श्रेष्ठता की धाक जमा दी थी । इन निबंधों में लेखक के हृदय की सरलता और मस्तिष्क की गम्भीरता ऐसी सर्वजनीन कल्याणभावना के साथ

घुले-मिले रूप में व्यक्त हुई कि उसने चिन्तन की धारा और प्रक्रिया को ही बदल दिया । इसमें सन्देह नहीं कि शुक्ल जी के निबंध विचार-प्रधान हैं परन्तु उनमें सघन विचार-वीथियों के अन्तराल में जो सरस भाव-स्रोत प्रवाहित होते हुए दिखाई पडते हैं वे इन निबंधों में अद्‌भुत आकर्षण और प्रभाव उत्पन्न कर देते हैं । साथ ही गम्भीर हास्य के, इधर-उधर छिटके हुए छींटे भी उनके निबंधों के वैचारिक गाम्भीर्य के भार को तनिक-सा हल्का बना उन्हें 'लोहे के चने' बनाने से बचा देते हैं । उनमें जहाँ एक ओर चिन्तन की मौलिकता, विश्लेषण की सूक्ष्मता, विवेचन की गम्भीरता ओर शैली की प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं, वहाँ भावात्मकता, व्यंग्यात्मकता और वैयक्तिकता की चमत्कारपूर्ण अभिव्यंजना भी मिल जाती है । इसी कारण आलोचकों में यह विवाद उठा था कि शुक्ल जी के इन निबंधों को विचार-प्रधान अथवा भाव प्रधान, या वैयक्तिक प्रधान अथवा निर्वैयक्तिकता प्रधान माना जाय । इन निबंधों में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण और समाज-शास्त्रीय विवेचन-दोनों का अद्‌भुत संतुलित योग मिलता है । विचारधारा श्रृंखलित और तर्कपूर्ण होती है जिसका प्रकटीकरण समास-शैली द्वारा हुआ है ।

शुक्लजी ने द्विवेदी-युग की शास्त्रीय गद्य-शैली को एक नया रूप देकर उसे प्रौढ़, समृद्ध ओर उन्नत बनाया था । विषय के विश्लेषण और पर्यालोचन की दृष्टि से इनमें एक वैज्ञानिक की सी सूक्ष्मता और सतर्कता मिलती है । इनके घनीभूत वाक्यों की ध्वनि अद्‌भुत प्रभाव की सृष्टि कर देती है । इन निबंधों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये 'शैली ही व्यक्ति है' - उक्ति के पूर्ण प्रतीक बन गए हैं । इनके निबंधों के किसी भी अंश को देख हम तुरन्त कह उठते हैं कि - 'अरे, ये तो शुक्ल जी बोल रहे हैं ।' इनसे पूर्व यह विशेषता केवल अध्यापक पूर्णसिंह के निबंधों में मिली थी । इसमें सन्देह नहीं कि शुक्लजी के 'कविता क्या है', 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' जैसे निबंधों की शैली साधारण पाठक के लिए दुरूह और क्लिष्ट है परंतु शुक्लजी के प्रौढ़ चिन्तन, सूक्ष्म विवेचन

और अद्‌भुत भाषाधिकार के दर्शन इन निबंधों में ही होते हैं । इनकी शैली इतनी सुगठित और प्रोढ़ है कि वाक्य में से एक भी शब्द को हटा देना या परिवर्तित कर देना सम्भव नहीं होता । ऐसा करते ही उसका गठन छिन्न-भिन्न हो जाता है । और सबसे बड़ी बात यह है कि इनमें सम्पूर्ण जीर्ण रूढ़ियों से मुक्त हो शुक्ल जी ने अपने लोक-कल्याण की भावना वाले सिद्धांत के आधार पर ही साहित्य, समाज, राजनीति, काव्यशास्त्र आदि का विवेचन किया है । यह दृष्टि उनके पूर्ववर्ती निबंधकारों में इस रूप में नहीं मिलती ।

इसी युग में भावात्मक निबंधों की एक अलग परम्परा मिलती है । प्रसाद जी ने अपने भावात्मक काव्यमय गद्य की एक पृथक शैली का प्रणयन कर भावात्मक निबंधों की परम्परा डाली थी । इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए अनेक लोगों ने लघु भावात्मक निबंध लिखकर हिन्दी-गद्य को नई कोमलता, मसृणता, रंगीनी, संगीतात्मकता, चित्रात्मकता, सरलता और सहजता प्रदान कर उसके रूप को निखारा और सशक्त बनाया । परंतु प्रसाद जी ने स्वयं विचार-प्रधान निबंध ही लिखे थे ।

शुक्ल-युग के अन्य निबंधकारों में **सियारामशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, बाबू गुलाबराय, जयशंकर प्रसाद, निराला, पन्त, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, राहुल सांकृत्यायन, वियोगी हरि, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवदी, राधाकृष्ण दास, चतुरसेन शास्त्री** आदि महत्वपूर्ण हैं । इनमें से कुछ ने शुक्ल युग के पूर्वार्द्ध में लिखना आरम्भ किया था और कुछ ने उत्तरार्द्ध में । **बाबू गुलाबराय** ने भी इस काल में अनेक महत्वपूर्ण साहित्यिक आलोचना-सम्बन्धी निबंध अत्यन्त सरल और सुबोध शैली में लिखे थे । कथ्य और शैली, व्यक्ति और विषय, विचार और अनुभूति का सहज-सरल प्रकाशन इनके विभिन्न प्रकार के निबंधों की विशेषता रही है । **सियारामशरण गुप्त** ने गम्भीर चिन्तन और साहित्यिक प्रभावोत्पादक शैली में अनेक विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक और

संस्मरणात्मक निबंध लिखे जो 'झूठ सच' के शीर्षक से संग्रहीत और प्रकाशित हुए हैं । **माखनलाल चतुर्वेदी** ने भावात्मक शैली में अनेक सुन्दर साहित्यिक सौन्दर्य से ओतप्रोत निबंध लिखे जो 'साहित्य देवता' में संग्रहीत हैं । **प्रसाद जी** के गम्भीर अध्ययन और प्रौढ़ चिन्तन से युक्त सुगठित, विचारात्मक शैली में लिखे गये आठ निबंध उनके 'काव्य और कला तथा अन्य निबंध' नामक संग्रह में संकलित हैं । ये निबंध प्रसाद के तत्व-चिन्तक रूप को स्पष्ट करते हैं । इसी प्रकार सामयिक साहित्यिक गतिविधियों और समस्याओं पर निराला जी ने भी अनेक सुंदर निबंध प्रौढ़ और व्यंग्यात्मक शैली में लिखे जो 'प्रबन्ध पद्म', 'प्रबन्ध प्रतिमा', 'चाबुक', 'चयन', 'प्रबन्ध पूर्णिमा' आदि विभिन्न संग्रहों में संग्रहीत हैं । **रायकृष्णदास, चतुरसेन शास्त्री** और **वियोगी हरि** के भावात्मक शैली में लिखे निबंध गद्य-काव्य की सी छटा विकीर्ण करते हैं ।

पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल एक उच्चकोटि के आलोचक और निबंधकार थे । 'मकरन्द' में संग्रहीत उनके निबंधों में चिन्तन की गम्भीरता और शैली की प्रौढ़ता लक्षित होती है । यात्रा-सम्बन्धी निबंधों में स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, राहुल सांकृत्यायन, देवेन्द्र सत्यार्थी, श्रीनिधि सिद्धांतालंकार का विशिष्ट स्थान है । **राहुलजी** ने साहित्य, राजनीति, इतिहास, दर्शन आदि पर भी अनेक सुललित निबंध लिखे हैं । **पं.बनारसीदास चतुर्वेदी** अपने संस्मरणात्मक निबंधों के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं । **पं.श्रीराम शर्मा** के शिकार-सम्बन्धी निबंध अपने ढंग के निराले हैं । **डॉ.सम्पूर्णानन्द** ने भी शिक्षा, संस्कृति, दर्शन आदि सम्बन्धी बहुत से निबंध लिखे हैं ।

उपर्युक्त निबंधकारों के अतिरिक्त इस युग में **डॉ.धीरेन्द्र वर्मा, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', रामकृष्ण शिलीमुख, सद्गुरूशरण अवस्थी, भदन्त आनन्द कोसल्यायन, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, रामावतार शर्मा, राम नारायण यादवेन्दु, लोचन प्रसाद पांडेय, केदारनाथ भट्ट, श्रीनाथ सिंह, कालिदास कपूर** आदि अनेक विद्वानों

ने विभिन्न विषयों से सम्बन्धित सुन्दर निबंध लिखे, जिन्होंने हिन्दी-निबंध-साहित्य को उन्नत और समृद्ध बनाने में महतवपूर्ण योगदान दिया ।

1.8. शुक्लोत्तर युग

इस युग में कुछ निबंधकारों ने शुक्लजी की परम्परा को आगे विकसित किया और अनेक भिन्न-भिन्न शैलियों तथा चिन्तन-धाराओं से अनुप्रेरित नए-नए निबंध लिखते रहे । शुक्लजी की परम्परा के निबंधकारों में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ. रामविलास शर्मा, डॉ.नगेन्द्र, शिवदान सिंह चौहान आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । वस्तुतः इस युग में शुद्ध निबंधकार के रूप में **आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी** का स्थान सर्वोपरि माना जा सकता है । द्विवेदीजी आलोचक, उपन्यासकार और निबंध-लेखक तीनों ही हैं ; परन्तु उनके निबंध ही उनके असली व्यक्तित्व को उद्‌घाटित करने में समर्थ हैं । इनमें उनके भावुक कलाकार, जागरूक चिन्तक और भाषा-शैली के धनी-लेखक के ये तीनों रूप एक साथ समन्वित रूप में प्रस्फुटित हुए हैं । उनके निबंधों में एक विशिष्ट सांस्कृतिकता, शास्त्रीयता और विनोदप्रियता के साथ प्रकट हुई है । 'अशोक के फूल', 'कल्पलता', 'विचार और वितर्क', 'विचार प्रवाह', 'कुटज' आदि उनके निबंध-संग्रहों में ऐसे अगणित निबंध संग्रहीत हैं जिन्हें निबंध का निखरा हुआ और विशुद्ध रूप माना जा सकता है । इनके इन निबंधों में चिन्तन की गम्भीरता और मौलिकता के साथ-साथ व्यक्तित्व की कलात्मक सरसता और सहजता एकाकार हो उठी है । इसी कारण उनके गूढ़ विषयों से सम्बन्धित निबंध भी जटिल और दुरूह न बन, पाठकों को अनुरंजनपूर्ण रसानुभूति का आस्वादन कराते हैं । उनके अधिकांश निबंधों को 'ललित निबंध' की संज्ञा निस्संकोच प्रदान की जा सकती है । वह प्रसंगानुकूल सुललित, संस्कृत गर्भित, मिश्रित और लोक-भाषा के विभिन्न सरस रूपों का उपयोग करने में दक्ष हैं । विषय-प्रतिपादन के समय बीच-बीच में चुटकुलों, मुहावरों, कहावतों आदि का प्रयोग करते हुए हास्य

व्यंग्यमयी शैली में सरस और मृदुल व्यंग्य भी कसते चलते हैं । इन गुणों ने उनके निबंधों को अद्‌भुत रूप से सरस ओर मार्मिक बना दिया है ।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने आलोचनात्मक निबंध ही अधिक लिखे हैं, जिनमें गम्भीर और व्यापक अध्ययन, मौलिक चिन्तन और सिद्धान्त प्रतिपादन की प्रवृत्ति ही अधिक झलकती है । उनके निबंधों में उनके व्यक्तित्व की छाप का अभाव रहा है । विचार और शैली की दृष्टि से उन्हें शुक्ल जी की परम्परा का आलोचक माना जा सकता है ।

डॉ.रामविलास शर्मा की प्रसिद्धि का आधार-उनकी आलोचना ही रही है परन्तु उन्होंने व्यक्तिनिष्ठ शैली में निर्वैयक्तिकता का निर्वाह करते हुए अनेक सुन्दर ललित निबंध भी लिखे हैं जो 'विराम चिह्न' नामक निबंध-संग्रह में संग्रहीत हैं । सरल, भावानुकूल शैली में चुभता हुआ मर्मस्पर्शी व्यंग्य कस जाना, उनकी विशेषता रही है । भारतेंदु-युग का सा ही करारा व्यंग्य भारतेंदु युग के उपरान्त इन्हीं के निबंधों में दिखाई पड़ता है । सम्बद्ध विषय का गम्भीर, यथार्थपरक विवेचन करते हुए बीच-बीच में व्यंग्यबाण छोड़ एक ही बार में बहुतों को आहत कर आगे बढ़ जाते हैं । शक्ल जी के समान इनके निबंधों में भी इनके प्रखर व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट रूप से उभर आती है । डॉ.शर्मा के आलोचनात्मक लोखों में भी निबंध के गुण उभर आते हैं । सरस और सहज परन्तु तीखेपन से भरा गाम्भीर्य उत्पन्न कर देने वाली उनकी शैली मन का रंजन करने के साथ-साथ चिन्तन को भी उद्‌बुद्ध कर देती है । इस युग के निबंधकारों में से यह विशेषता केवल द्विवेदीजी के निबंधों में ही मिलती है ।

शान्तिप्रिय द्विवेदी इस युग के आत्मानुभूतिपरक वैयक्तिक निबंध लिखने वालों में अग्रगण्य हैं । उनकी प्रवृत्ति आलोचक से अधिक निबंधकार की रही है । जो स्वच्छन्दता और संवेदनशीलता

निबंधकार के लिए अपेक्षित है वह इनमें पूर्ण मात्रा में मिलती है । 'साहित्यिकी', 'संचारिणी', 'सामयिकी', 'युग और साहित्य', 'धरातल' आदि इनके प्रसिद्ध निबंन्ध-संग्रह हैं । इनकी शैली सरस, भावात्मक और प्रभविष्णु है । **जैनेन्द्र** ने भी दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, साहित्यिक आदि विभिन्न विषयों पर कुछ फुटकर निबंध लिखे हैं । उनकी विषय-प्रतिपादन की चक्करदार शैली दार्शनिकता से इतनी बोझिल हो उठती है कि पाठक चक्कर में पड़ जाता है । अस्पष्टता को इनके निबंधों का प्रधान गुण माना जा सकता है । **डॉ.नगेन्द्र** ने अधिकांशतः साहित्यिक-आलोचनात्मक निबंध ही लिखे हैं । इनमें व्यक्तित्व की अपेक्षा विवेच्य विषय की ही प्रधानता रहती है । परन्तु उनकी स्पष्ट विवेचन-प्रधान शैली सम्बद्ध विषय के गूढ़ पक्षों को भी स्पष्ट और सुबोध बना देने में पूर्ण सक्षम रहती है । उनकी निबंध-लेखन शैली में विषय के उतार-चढ़ाव के साथ व्याख्यात्मक, विश्लेषणात्मक, अलंकृत आदि विभिन्न रूप एक साथ मिलते चले जाते हैं, जो रोचकता की अभिवृद्धि करते हैं । फिर भी समष्टि रूप से इनके निबंधों को सरस और रंजनकारी नहीं माना जा सकता । इनके निबंध की अपेक्षा 'लेख' अधिक रहे हैं ।

डॉ.वासुदेवशरण अग्रवाल ने भारतीय संस्कृति और पुरातत्व-सम्बन्धी अनेक सुन्दर निबंध लिखे थे जिनमें गम्भीर और विस्तृत अध्ययन के साथ मौलिक चिन्तन की गरिमा उन्हें प्रभावशाली बना देती है । सरलता और स्पष्टता, उनकी शैली के प्रधान गुण हैं । 'कला और संस्कृति', 'पृथ्वीपुत्र', 'मातृभूमि' आदि उनके प्रसिद्ध निबंध-संग्रह हैं । **डॉ. सत्येन्द्र** ने अधिकांशतः साहित्यिक आलोचना-सम्बन्धी निबंध ही लिखे हैं जिनके माध्यम से उनके विस्तृत अध्ययन और चिन्तन का रूप सामने आता है । 'साहित्य की झाँकी', 'कला, कल्पना और साहित्य' उनके प्रसिद्ध निबंध-संग्रह हैं । **रामवृक्ष बेनीपुरी** ने आत्मपरक निबंध अधिक लिखे हैं जो 'वन्दे वाणी-वीनायकौ' संग्रह में संग्रहीत हैं । इनमें उन्होंने अपनी जीवन की झाँकियाँ देते हुए वस्तुनिष्ठ शैली में स्थायी और

सामयिक समस्याओं तथा विविध विषयों का विवेचन किया है । शैली में भावुकता का प्राधान्य रहा है । भाषा अत्यंत सरल और ग्राम्य-प्रयोगों से आकर्षक हो उठी है । **कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'** ने भावना के स्तर पर आत्मपरक शैली में अनेक ऐसे सुललित निबंध लिखे हैं जिनमें बीच-बीच में मीठी चुटकियाँ लेते हुए विषय का गम्भीर और विचारोत्तेजक निरूपण किया है । 'बाजे पायलियाँ के धुँधरू', 'जिन्दगी मुस्कराई', 'दीप जले, शंख बजे', 'क्षण बोले, कण मुस्काए' इनके प्रसिद्ध निबंध-संग्रह हैं जिनमें निबंध की परिभाषा पर खरे उतरने वाले सुललित निबंध संग्रहीत हैं । वसतुतः प्रभाकर जी को इस युग का श्रेष्ठ ललित निबंधकार माना जा सकता है । इनकी शैली में इनका व्यक्तित्व उभर आता है ।

डॉ.भगवत शरण उपाध्याय ने ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विषयों पर अनेक निबंध लिखे हैं जिनमें नवीन मौलिक चिन्तन, विषय की गरिमा, विवेचन की अपूर्व क्षमता और गम्भीर अध्ययन की छटा मिलती है । 'इतिहास के पृष्ठों पर', 'सांस्कृतिक निबंध', 'खून के धब्बे' आदि में ऐसे ही निबंध संग्रहीत हैं ।

उपर्युक्त निबंधकारों के अतिरिक्त इस युग में अनेक काथाकरों, आलोचकों, नाटककारों आदि ने भी अगणित निबंध लिखे हैं । इनमें **यशपाल, प्रभाकर माचवे, नामवरसिंह, विद्यानिवास मिश्र, पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', डॉ. विजयेन्द्र स्नातक, अगरचन्द नाहटा, मन्मथनाथ गुप्त, गंगाप्रसाद पांडेय** आदि का नाम उल्लेखनीय है । इनमें से लगभग सभी ने आलोचनात्मक निबंध ही अधिक लिखे हैं । इन लोगों को आलोचक ही अधिक माना गया है ।

कहा जाता है कि हास्य-व्यंग्य की दृष्टि से हिन्दी साहित्य बहुत दरिद्र है । परनतु यह मत सच नहीं है । यह सत्य है कि आधुनिक युग के मध्यकाल में हिन्दी-साहित्य में हास्य-व्यंग्य का अभाव रहा परन्तु पिछले कुछ वर्षों से नियमित रूप से ऐसे निबंध लिखे जाने लगे हैं, जिनमें हास्य और व्यंग्य का मँजा हुआ रूप

निखरता चला आ रहा है । पुराने लेखकों में **पं.गोपाल प्रसाद व्यास, बेढ़ब बनारसी, प्रभाकर माचवे, डॉ.इन्द्रनाथ मदान** आदि प्रायः ऐसे निबंध लिखते रहते हैं जिनमें हास्य मिश्रित चुटीले व्यंग्यों की छटा विकीर्ण होती मिलती है । व्यासजी के ऐसे निबंध 'कुछ सच', 'कुछ झूठ', 'मैंने कहा' आदि संग्रहों में संग्रहीत हैं । हिन्दी में ऐसे निबंधकारों की एक नई पीढ़ी सामने आई जो पत्रपत्रिकाओं में नियमित रूप से ऐसे निबंध लिखती रहती है । इस नई पीढ़ी में **हरिशंकर परसाई, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, रामनारायण लाल, रवीन्द्र त्यागी, नाडोड़ी, राधाकृष्ण** आदि उल्लेखनीय हैं । इनके निबंधों में अत्यन्त आकर्षण और मनोरम शैली में वभिन्न सामयिक समस्याओं, प्रवृत्तियों, रूढ़ियों आदि पर बड़े मार्मिक और चुटीले व्यंग्य रहते है । इन निबंधों की अपनी एक विशिष्ट शैली होती है जो कभी मुक्तहास्य को जन्म देती है और कभी अधरों में मन्द मुस्कान की लजीली रेखा अंकित करती है । यह नई शैली भारतेंदु-युगीन शैली से भिन्न और अधिक सशक्त है । इसने हिन्दी में एक नई शक्ति और क्षमता उत्पन्न कर दी है ।

हिन्दी के हास्य-व्यंग्य भरे निबंध लिखने वालों में **हरिशंकर परसाई** सर्वश्रेष्ठ हैं । उनकी सी तीखी राजनीतिक और सामाजिक चेतना, उसकी गहरी अनुभूति और उस अनुभूति को, काटनेवाली व्यंग्यपूर्ण भाषा में साकार कर देनेवाली कला हिन्दी के अन्य किसी भी व्यंग्यकार में नहीं मिलती । व्यंग्यकार मानव के कष्टों और कमजोरियों के रास्ते उसकी जिजीविषा की उस छटपटाहट तक पहुँचता है जो उसके ऊपरी आवरणों और मुखौटों की वजह से स्थूल दृष्टि की पकड़ में नहीं आतीं । व्यंग्य मानवीय प्रकृति के इस अव्यक्त अंश का उद्‌घाटन करके अपनी रचनात्मकता प्रकट करता है । मानवीय संवेदनशीलता का कोमल स्पर्श मनुष्य की सारी कमजोरियों, विकृतियों और विरूपताओं के मूल में स्पन्दित जीवनेच्छा का साक्षात्कार कर देती है । परसाई की रचनाओं में सूक्ष्म दृष्टि, प्रगल्भ कथन शैली और अर्थगर्भित भाषा के साथ इसी मानवीय

संवेदनशीलता की गहन अनुभूति का लोकमंगलकारी चमत्कार दिखाई पड़ता है ।

इनके अतिरिक्त हिन्दी के अनेक लेखक विभिन्न साहित्यिक एवं भाषा-सम्बन्धी विषयों और समस्याओं पर प्रायः निबंध लिखते रहते हैं । **अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी, दिनकर, बच्चन** आदि हिन्दी के जाने-माने लेखकों के ऐसे निबंध पढ़ने को मिल जाते हैं । जोशी जी ने फ्रॉयडवाद की शव-परीक्षा करते हुए 'धर्मयुग' में कई सुंदर निबंध लिखे थे । दिनकर जी ने भाषा-समस्या को लेकर विद्वत्तापूर्ण सुगठित निबंध लिखे हैं । इनके अतिरिक्त **धर्मवीर भारती, कमलेश्वर, निर्मल वर्मा, राजेन्द्र यादव** आदि कथाकारों ने आधुनिक साहित्य में पनपनेवाली अश्लीलता, संत्रास, कुण्ठा आदि की प्रवृत्तियों सम्बन्धी अनेक विचारोत्तेजक निबंध नई शैली में लिखे हैं । ये निबंध विचारों की उत्तेजना प्रदान कर इन समस्याओं पर गहराई से मनन करने को बाध्य कर देते हैं । इसके अतिरिक्त **कुबेरनाथ राय** आदि ने आधुनिक साहित्य की गम्भीर शास्त्रीय और वैचारिक समस्याओं पर सुन्दर सुगठित सुललित निबंध लिखे हैं । उनके इन निबंधों में पौराणिकता का आवरण डाल वर्तमान बड़े गहरे रूप में लिख उठता है । भावुकता के साथ यथार्थ का तीखा अहसास इनके निबंधों में एक अद्‌भुत कान्ति और मनोहरता उत्पन्न कर देता है । उपर्युक्त कोटि के निबंध पाठकों में वैचारिक उत्तेजना उत्पन्न कर, नए युग की नई समस्याओं को प्रस्तुत करते हुए मौलिक और स्वतन्त्र चिन्तन की प्रवृत्ति उत्पन्न करते हैं ।

1.9. समाहार

आधुनिक युग में हिन्दी-निबंध ने अनेक साहित्य-रूपों को अपने भीतर आत्मसात कर विकास किया है । जीवन की यथार्थता, कहानी की संवेदना, नाटक की नाटकीयता, उपन्यास की मनोरम कल्पना, गद्य-काव्य की भावुकता, विचारों की उत्कृष्टता आदि सभी अंश इस युग के निबंधों में मिल जाते हैं । इनमें भाषा और शैली-परिष्कार तथा

शब्द-भंडार की अभिवृद्धि के प्रयत्न भी मिल जाते हैं । आज निबंध सामाजिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक आदि क्षेत्रों में भी प्रविष्ट हुआ है । इस काल के निबंधों में साहित्यिकता, गाम्भीर्य, प्रौढ़ता, शास्त्रीयता, तर्क-संकुलता आदि का प्राधान्य रहा है ।

1.10. बोध प्रश्न

1. हिन्दी-साहित्य में निबंध-विधा का जन्म और इसके विकास-क्रम को समझाइए ।
2. भारतेंदु-युग का हिन्दी निबंध-क्षेत्र में योगदान पर विचार कीजिए ।
3. द्विवेदीयुगीन निबंधकारों पर एक लेख लिखिए ।
4. निबंध-साहित्य में शुक्ल-युग के महत्व को स्पष्ट कीजिए ।
5. शुक्लोत्तर युग की उपलब्धियों पर प्रकाश डालिए ।

NOTES

इकाई दो : आचार्य शुक्ल और उनका निबंध 'करुणा'

इकाई की रूपरेखा

2.0. उद्देश्य

2.1. प्रस्तावना

2.2. आचार्य शुक्ल का जीवन परिचय

2.3. शुक्लजी के साहित्यिक व्यक्तित्व का विकास

2.4. शुक्लजी का साहित्य

2.5. शुक्लजी का योगदान

2.5.1. निबंध के क्षेत्र में शुक्लजी की मान्यताएँ

2.5.2.व्यक्तित्व का सन्निवेश

2.5.3.शुक्लजी के निबंध के संबंध में अन्य विचार

2.6. शुक्लजी के निबंधों का विकास

2.6.1.प्रारंभिक निबंध

2.6.2.प्रौढ़ावस्था के निबंध

2.7. शुक्लजी के निबंधों की विशेषताएँ

2.7.1. संगठित विचार परंपरा

2.7.2. विषय प्रधानता तथा व्यक्ति प्रधानता

2.7.3. निबंधों में लोकवाद

2.7.4. नए ढंग की आत्माभिव्यक्ति

2.7.5. हास्य-व्यंग्य और विनोद

2.7.6. भावात्मकता

2.7.7. विषय-प्रतिपादन तथा भाषा-शैली में भव्यता और विशालता

2.7.8. निबंधों में निगमन शैली

2.7.9. अनेक प्रकार की कथाओं का समावेश

2.8. शुक्लजी के निबंधों का महत्व

2.9. समीक्षात्मक निबंध क्षेत्र

2.10. हिन्दी निबंध क्षेत्र में शुक्लजी का स्थान

2.11. शुक्लजी का निबंध - 'करूणा'

2.12. करूणा की परिभाषा

2.13. करूणा और क्रोध

2.14. करूणा में सात्विकता का प्रसार

2.15. करूणा और शोक

2.16. करूणा में सामाजिकता

2.17. करूणा का नियन्त्रण

2.18. करूणा की उत्पत्ति

219. सामाजिक जीवन में करूणा का महत्व

2.20. करूणा और सामाजिक जीवन

2.21. समाहार

2.22. बोधप्रश्न

2.0. उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा उनके निबंधों का समग्र परिचय देते हुए उनके 'करूणा' शीर्षक निबंध का विवेचन किया जा रहा है, जिसके अध्ययन के बाद आप -

1. शुक्लजी के जीवन का परिचय प्राप्त करेंगे ;
2. शुक़्लजी के साहित्य से परिचित होंगे ;
3. शुक्लजी के योगदान से परिचित होंगे ;
4. शुक्लजी के निबंधों की विशेषताओं को समझ पायेंगे ;
5. शुक्लजी के निबंधों के महत्व को जान पायेंगे ;
6. हिन्दी निबंध के क्षेत्र में शुक्लजी का स्थान निर्धारित कर पायेंगे ;
7. उनके द्वारा रचित 'करूणा' निबंध की संपूर्ण जानकारी प्राप्त करेंगे ।

2.1. प्रस्तावना

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी निबंध-साहित्य के क्षेत्र में सर्वश्रेष्ठ स्थान के अधिकारी हैं । शुक्लजी ने प्रत्येक निबंध में अपनी मान्यता के आधार पर संबंधित विषय का तुलनात्मक एवं व्यावहारिक सूक्ष्म विवेचन किया है । उन्होंने अपनी आलोचना में भारतीय और पाश्चात्य पद्धतियों का समन्वय किया है । कतिपय आलोचकों ने शुक्लजी को क्लिष्ट, गंभीर कहा है किंतु उनकी रचनाओं में विचारों की गहनता है । उनकी 'चिंतामणि' के निबंधों में बुद्धि-तत्व और हृदय की अनुभूति का सुंदर सम्मिश्रण है । 'चिंतामणि' में संग्रहीत 'करूणा' निबंध की चर्चा प्रस्तुत इकाई में की जा रही है ।

2.2. आचार्य शुक्ल का जीवन परिचय

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी का जन्म बस्ती जिले के आगोना नामक ग्राम में संवत् 1941 में हुआ था । जब शुक्ल जी की अवस्था केवल चार वर्ष की थी, उनके माता पिता पं.चन्द्रवली शुक्ल हमीरपूर जिले की राठ तहसील में सुपरवाइजर कानूनगो होकर आ गये । 6

वर्ष की अवस्था में शुक्ल जी ने यहीं हिन्दी-उर्दू स्कूल में अध्ययन प्रारंभ किया । शुक्ल जी की दादी 'रामायण' व 'सूरसागर' का नियमपूर्वक पारायण करती थीं और पिता 'रामचन्द्रिका' व भारतेन्दु के नाटकों के प्रेमी थे । इस वातावरण के कारण बाल्यावस्था से ही शुक्ल जी के हृदय में साहित्य के अंकुर फूटने प्रारम्भ हो गये थे ।

संवत् 1955 में शुक्ल जी के पिता की बदली मिर्जापुर हो गई । मिर्जापुर में ही शुक्ल जी का प्रारम्भिक जीवन व्यतीत हुआ । चौदह वर्ष की आयु में आपने मिडिल की परीक्षा उत्तीर्ण की । 'शुक्ल' जी के समीप में एक विद्वान पं.विन्ध्येश्वरी प्रसाद रहते थे । वे पर्यटन के प्रेमी थे । वे अपने शिष्यों के साथ जंगल और पहाड़ों में घूमते हुए 'उत्तर रामचरित' के श्लोक बड़े चाव से सुनाया करते थे । शुक्ल जी को यदाकदा यह सुयोग प्राप्त हो जाता था । इसी वातावरण के कारण शुक्ल के हृदय में संस्कृत और हिन्दी के प्रति प्रेम जागृत हुआ । श्री काशी प्रसाद जायसवाल के सम्पर्क ने उनके हिन्दी-प्रेम को और भी दृढ़ कर दिया । इसी समय काशी के पं.केदारनाथ पाठक के सम्पर्क से हिन्दी की ओर आपके चरण और बढ़े । संवत् 1958 के प्रारम्भ में शुक्ल जी ने एन्ट्रेन्स की परीक्षा उत्तीर्ण की । इसके पश्चात् पारिवारिक झंझटों के कारण आप का पढ़ना आगे न चल सका और आप पुनः आगोना लौट आये । सरकारी नौकरी से आपको प्रारम्भ से ही चिढ़ थी । 'Hindustan Review' पत्र में उनके लिखे हुए लेख "What has India to do ?" से आपकी सरकारी नौकरी के प्रति अरूचि का आभास मिलता है । इसके पश्चात् आप मिशन स्कूलों में ड्राइंड्ग टीचर के रूप में कार्य करते रहे । इसके पश्चात् 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' में आप को 'हिन्दी कोष' का सहायक सम्पादक नियुक्त किया गया । कोष का कार्य समाप्त होने के पूर्व ही आप काशी विश्वविद्यालय में निबंध-लेखन की शिक्षा देने हेतु नियुक्त हुए और कुछ दिनों के बाद वहीं हिन्दी-साहित्य के प्राध्यापक बन गये । संवत् 1980 में आप काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए ।

2.3. शुक्लजी के साहित्यिक व्यक्तित्व का विकास

शुक्लजी की रूचि प्रारम्भ से ही साहित्य की ओर थी । आप ने तेरह वर्ष की आयु में ही 'हास्य-विनोद' नाम का नाटक लिखा, जिसे एक महाशय ने हंसी में ही फाड़ डाला । पृथ्वीराज चौहान पर भी एक नाटक लिखना प्रारम्भ किया और उसके दो अंक लिख भी डाले । सोलह वर्ष की आयु में 'सरस्वती' पत्रिका में 'मनोहर छटा' नामक आपकी कविता प्रकाशित हुई । संवत् 1986 में आपने अंग्रेजी पत्र 'Indian People' में एक लेख-माला प्रकाशित कराई जिससे आपकी पर्याप्त प्रसिद्धि हो गई । इसके पश्चात् हिन्दी के प्रत्येक क्षेत्र में आपके द्रुतगामी चरण सफलतापूर्वक बढ़ते ही गए ।

शुक्ल जी का व्यक्तित्व अत्यन्त सरल था । आप हास्य-प्रिय व विनोदी भी अत्यधिक थे । प्रकृति को तो अत्यन्त प्रेम करते थे । आपकी मित्र-मंडली में काशी प्रसाद जायसवाल, पं.भगवान दास हालना, पं.बद्रीनाथ गौड़, पं.लक्ष्मीशंकर द्विवेदी थे । स्वतंत्र प्रकृति होने के कारण आप अलवर-नरेश के यहाँ से चले आये थे । बच्चों, कुत्तों, बिल्लियों तक से आपको असीम प्रेम था । आप चाय बहुत पिया करते थे ।

2.4. शुक्ल जी का साहित्य

हिन्दी का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है, जिस पर शुक्लजी ने न लिखा हो । कविता, गद्य, निबंध, आलोचना आदि सभी कुछ उन्होंने लिखा । आपके द्वारा लिखित साहित्य निम्न प्रकार है -

आलोचना - जायसी, सूर व तुलसी की विस्तृत भूमिकायें एवं कतिपय लेख, उदाहरणार्थ 'काव्य में रहस्यवाद' ।

निबंध - निबंधों की संख्या अधिक है जो 'चिन्तामणि' नाम से दो भागों में संग्रहीत है ।

इतिहास - हिन्दी-साहित्य का इतिहास ।

अनुवाद - विश्व प्रपंच (Ridle Universe), का अनुवाद, कल्पना का

आनन्द (एडीसन के Essay of the imagination का अनुवाद) मैगस्थनीज का भारतीय विवरण (अंग्रेजी में) काव्य प्रबन्ध-शिक्षा (सर टी. माधव के Minor Hints का अनुवाद) बुद्धचरित (Light of Asia के आधार पर) आदर्श जीवन (Plain living and High Thinking का अनुवाद) शशांक (राखालदास के बंगला उपन्यास का अनुवाद) ।

कविताएँ - फुटकर, बुद्धचरित ।

विविध - फारस का प्राचीन इतिहास, राधाकृष्णदास का जीवन चरित्र आदि ।

उपर्युक्त ग्रन्थ एवं पुस्तकें ही शुक्ल जी की प्रतिभा को स्थिर रखने के लिए पर्याप्त हैं । आप की मृत्यु 2 फरवरी सन् 1941 ई. को दमे के रोग में हृदय-गति बन्द हो जाने से हुई । आपकी मृत्यु से हिन्दी-साहित्य को कितनी क्षति पहुँची है, इसका अनुमान डॉ.श्यामसुन्दरदास के इन शब्दों से लग जाता है - ''शुक्ल जी हिन्दी के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र थे । उन्होंने अपनी कृतियों से हिन्दी-साहित्य का उत्कर्ष किया । वे उच्चकोटि के समालोचक और निबंध लेखक थे । उनकी मृत्यु से हिन्दी साहित्यकारों में जो स्थान रिक्त हुआ, सहसा पूरा होता । हिन्दी निबंध और शुक्ल जी दिखाई नहीं देते ।

2.5. शुक्ल जी का योगदान

हिन्दी-निबंध के क्षेत्र में शुक्लजी का योगदान अमर है । शुक्लजी से पूर्व निबंध लिखे जा चुके थे । किन्तु उनके विषय वही घिसे-घिसाए, पिटे-पिटाए थे । उनमें कोई नवीनता नहीं थी । शुक्लजी ने इस क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित की । आपने नूतन विषयों पर निबंध लिखे और नई प्रणाली पर विषय को आगे बढ़ाने का उदाहरण प्रस्तुत किया ।

2.5.1. निबंध के क्षेत्र में शुक्ल जी की मान्यताएँ

शुक्लजी की निबंध संबंधी मान्यताएँ अपनी निजी थीं । यों तो आधुनिक निबंध-साहित्य पश्चिम से प्रभावित है और शुक्लजी के

निबंधों में भी पाश्चात्य मान्यताओं की सत्ता दीख पड़ती है । परंतु शुक्लजी के निबंधों में निजी मान्यतायें अधिक उभरी हुई हैं । मनोविज्ञान पर उनके अपने निजी विचार थे और इसी कारण उनके निबंधों को पाश्चात्य निबंधकारों की श्रेष्ठ रचनाओं के बीच गर्वपूर्वक रखा जा सकता है ।

2.5.2. व्यक्तित्व का सन्निवेश

पाश्चात्य विद्वानों ने निबंध में व्यक्तित्व के सन्निवेश को प्रधानता दी है । 'निबंध' शब्द से जो ध्वनि निकलती है, वह है कसा हुआ बन्ध अर्थात् गद्य की एक ऐसी रचना, जिसमें कसाव हो । पाश्चात्य विद्वानों ने इस 'कसाव' का अर्थ लघु विस्तार से लिया है, जबकि शुक्लजी ने इसके साथ-साथ भावों व विचारों की कसावट को भी प्रमुखता दी है । पाश्चात्य विद्वान् व्यक्तित्व के सन्निवेश के सम्मुख भावों व विचारों की कसावट को महत्व नहीं देते । वे इसे एक ढीली रचना बताते हैं, जबकि शुक्लजी व्यक्तित्व के सन्निवेश पर बल देते हुए भी निबंध के भावों और विचारों को भी उतना ही महत्व देते है, जितना कि विस्तार की कसावट को अनेक दूसरे पाश्चात्य विद्वान् वैयक्तिकता को आवश्यकता से अधिक महत्व देते हैं । अनेक पाश्चात्य निबंधकार लिखते-लिखते अपने जीवन के संस्मरणों को इतने विस्तार से वर्णन करने लगते हैं कि मूल विषय से उनका संबंध विच्छेद-सा हो जाता है । शुक्लजी इस प्रकार की वैयक्तिकता के पक्ष में नहीं हैं । आप निबंधकार के व्यक्तित्व को उसके व्यक्तिगत अनुभवों के विषयान्तर को उस सीमा तक निबंध में समाविष्ट करने के पक्षपाती हैं, जहाँ तक वे प्रासंगिक हों और विषय से पृथक् न प्रतीत होते हों । यही कारण है कि शुक्लजी ने जहाँ भी विषयान्तर किया है, वह पाश्चात्य निबंधों की भाँति अप्रासंगिक नहीं है, वरन् संक्षिप्त और विषय के अनुकूल है ।

2.5.3. शुक्लजी के निबंध के संबंध में अन्य विचार

1. निबंध गद्य साहित्य का महत्वपूर्ण अंग है । उसकी रचना सरल नहीं प्रत्युत्गूढ़ और गम्भीर है ।

2. निबंध ''गद्य की कसौटी'' है । भाषा का पूर्ण विकास निबंधों में दृष्टिगोचर होता है ।

3. निबंधों में नूतन विषयों का समावेश होना चाहिए । विचारों को परस्पर इस प्रकार गुंथा रहना चाहिए कि उन्हें पढ़ते ही पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े । निबंध की गूढ़ विचारधारा पाठकों को मानसिक श्रम-साध्य नूतन उपलब्धि के रूप में जान पड़े ।

4. निबंध में भाषा और अर्थ-विज्ञान दोनों में चुस्ती आवश्यक है ।

5. आचार्य शुक्ल निबंधों में बुद्धि के साथ-साथ हृदय के योग को भी आवश्यक बताते हैं । ''चिन्तामणि'' की भूमिका में उन्होंने लिखा है -

   ''इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं । यात्रा के लिये निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर । अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँचती है, वहाँ हृदय थोड़ा बहुत रमता, अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है । इसमें यात्रा के श्रम का परिहार होता रहा । बुद्धि-पथ पर हृदय भी अपने लिये कुछ न कुछ पाता रहा है ।''

6. शुक्ल जी विचारात्मक निबंधों को ही सर्वश्रेष्ठ मानते है ।

2.6. शुक्ल जी के निबंधों का विकास

2.6.1. प्रारंभिक निबंध

शुक्लजी ने अपने साहित्य जीवन के प्रारम्भ में ही निबंध लिखना आरम्भ किया था । **'चिन्तामणि'** में गूढ़ विषयों पर लिखे हुए प्रौढ़ निबंध दीख पड़ते हैं । वे अकस्मात् ही शुक्लजी की लेखनी से उत्पन्न नहीं हो गए । उनका भी एक क्रमिक विकास है । यही कारण है कि जहाँ शुक्लजी के अनेक निबंध उनकी प्रौढ़ चिन्तन-शक्ति के परिचायक हैं वहाँ कुछ में चिन्तन-शक्ति की इतनी प्रौढ़ता नहीं है । ऐसे निबंध उनके प्रायः प्रारम्भिक निबंध हैं । उदाहरणार्थ,

'साहित्य', 'भाषा की शक्ति', 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' और 'मित्रता' आदि । इन निबंधों के विषय भी यह इंगित करते हैं कि प्रारम्भिक निबंधों में शुक्लजी की दृष्टि महत्वपूर्ण विषयों की ओर ही गई थी । भावों एवं मनोविकारों पर प्रौढ़ निबंध एकाएक ही उन्होंने नहीं लिख डाले वरन् उनकी रूचि प्रारम्भ से ही इस ओर थी । यही बात उनके आलोचनात्मक निबंधों के सम्बन्ध में कही जा सकती है । उनके प्रौढ़ आलोचनात्मक निबंध प्रारम्भ के विकसित रूप हैं ।

शुक्लजी के प्रारम्भिक और बाद के निबंधों की शैली में विशेष अन्तर नहीं है । इससे स्पष्ट होता है कि शुक्लजी की निबंध-लेखन-कला के पीछे एक क्रमिक विकास अन्तर्निहित है । उनकी प्रतिभा शनैः-शनैः विकसित होती हुई अपनी प्रौढ़ता पर पहुँची है । शुक्लजी के इन प्रारम्भिक निबंधों में निबंध के सारे तत्व दृष्टिगोचर नहीं होते, फिर भी इनका महत्व कम नहीं होता ।

2.6.2. प्रौढ़ावस्था के निबंध

इन निबंधों में दो प्रकार के विषय हैं । एक तो भावों व मनोव्रिकारों से सम्बन्धित और दूसरे समीक्षात्मक । अतः इन निबंधों को दो कोटियों में विभाजित किया जा सकता है ।

1. भावों और मनोविकारों पर लिखे निबंध ।
2. समीक्षात्मक निबंध ।

समीक्षात्मक निबंधों को भी दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है -

अ) सैद्धान्तिक समीक्षा से सम्बन्धित और

आ) व्यावहारिक समीक्षा से सम्बन्धित ।

1. भावों और मनोविकारों पर लिखे निबंध

भाव या मनोविकारों पर लिखे गये निबंध हैं - उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, करूणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय, क्रोध, आदि ।

अ) सैद्धान्तिक समीक्षा से सम्बन्धित निबंध

कविता क्या है, काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था, साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद, रसात्मक बोध के विविध रूप, आदि ।

आ) व्यावहारिक समीक्षा से सम्बन्धित निबंध

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, तुलसी का भक्ति-मार्ग, मानस की धर्मभूमि, आदि ।

2.7. शुक्लजी के निबंधों की विशेषताएँ

श्री विश्वनाथ ने अपनी कृति 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल' में शुक्ल जी के निबंधों पर विद्वत्तापूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया है । उन्होंने इस संबंध में निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख किया है -

2.7.1. संगठित विचार परम्परा

शुक्ल जी के निबंधों में विषय और विचार दोनों की 'कसावट' है । भाव और विचार एक-दूसरे से इस प्रकार से गुम्फित रहते हैं कि उसकी एक लड़ी-सी बन जाती है और पाठक सरलता से एक के बाद दूसरे विचार पर पहुँच जाता है । इस संगठित परम्परा के कारण ही शुक्लजी के निबंधों में इतनी प्रौढ़ता आ गई है । किसी भी वाक्य का इधर-उधर करना सम्भव नहीं है ।

2.7.2. विषय-प्रधानता तथा व्यक्ति-प्रधानता

शुक्लजी के निबंधों में दोनों तत्वों का सम्मिश्रण है । उन्होंने सिद्ध कर दिया है कि निबंध एक साथ ही विषय-प्रधान भी हो सकता है और व्यक्ति-प्रधान भी । दोनों में कोई विशेष विरोध नहीं है । भले ही निबंधकार की दृष्टि मूल विषय पर हो, उसकी शैली में उसके व्यक्तित्व की छाप अवश्य होगी । बफन ने स्पष्ट कहा है - ''शैली ही लेखक का व्यक्तित्व होता है । ''जब शैली में लेखक के व्यक्तित्व की छाप स्वीकार कर ली गई तब विषयानुसार संक्षिप्त विषयान्तर निबंध को संगठित ही करेगा । शुक्लजी के निबंध ऐसे ही हैं ।

उनमें भावों और विचारों की कसावट, संगठित विचार-परंपरा, प्रौढ़ता सब कुछ है, साथ ही लेखक की वैयक्तिकता भी और विषयानुसार प्रासंगिक विषयान्तर भी । यही कारण है कि वे एक साथ विषय-प्रधान भी हैं और व्यक्ति-प्रधान भी ।

2.7.3. निबंधों में लोकवाद

जागरूक व्यक्ति होने के नाते शुक्लजी का ध्यान समाज और लोक की ओर सदैव रहा ; उन्होंने किसी वस्तु को लोक ओर समाज से अलग करके नहीं देखा । भावों और मनोविकारों पर लिखे गये अपने निबंधों में उन्होंने सर्वत्र लोक और समाज का ध्यान रखा है । ऐसे व्यक्तियों के प्रति उन्होंने तीव्र व्यंग्य किया है, जो समाज व लोक के लिए घातक है । 'श्रद्धा-भक्ति' तथा 'भय' निबंध शुक्लजी के इस लोकवाद के विशेष उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।

2.7.4. नए ढंग की आत्माभिव्यक्ति

शुक्लजी के निबंधों में आत्माभिव्यक्ति स्थान-स्थान पर मिलती है । परन्तु इस आत्माभिव्यक्ति का रूप अत्यन्त संयत है । इस प्रकार के न जाने कितने उदाहरण शुक्लजी के निबंधों में हैं । उनका सारनाथ से लौटते समय रात में काशी की गलियों में दीपकों को जलता देख उज्जयिनी का भ्रम करना, फिर ठठेरों की आवाज से उनका भ्रम टूटना, साँची का स्तूप देखने जाना, महुओं की सुगन्ध से मस्त हो जाना और लखनवी महाशय का, जो हिन्दी के पुराने लेखक श्री पुत्तूलाल विद्यार्थी हैं, शुक्लजी को महुए का नाम लेते देखकर टोकना कि ''कोई सुन लेगा तो लोग देहाती समझेंगे'' आदि । इस प्रकार की आत्माभिव्यक्ति अंग्रेजी निबंधों में नहीं पायी जाती ।

2.7.5. हास्य-व्यंग्य और विनोद

विनोदप्रियता शुक्लजी की प्रकृति का प्रमुख अंग थी । उनके निबंधों में हास्य-व्यंग्य और विनोद का सुन्दर स्वरूप उभरा है । 'उत्साह' नामक निबंध में वे वीरों पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं -

''इस जमाने में वीरता का प्रसंग उठाकर वाग्वीर का उल्लेख यदि न हो तो बात अधूरी ही रह जायेगी । ये वाग्वीर आजकल बड़ी-बड़ी सभाओं के मंचों से लेकर स्त्रियों के उठाये गए पारिवारिक प्रपंचों तक में पाये जाते हैं, काफी तादात में ।''

शुक्लजी ने अपनी प्रतिभा से निबंध जैसे गूढ़ विषय में जो हास्य-विनोद और व्यंग्य को स्थान दिया है, वह सर्वथा प्रासंगिक है । इसको जबर्दस्ती ठूँसा नहीं गया है ।

2.7.6. भावात्मकता

शुक्लजी का हृदय भावुकता से भरा हुआ है । वे रूखे आलोचक शुष्क निबंध-लेखक मात्र नहीं थे, अपितु प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में विचरण करने वाले अपूर्व प्रेमी थे । 'चिन्तामणि' के निवेदन में उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि निबंध में बुद्धि-तत्व के साथ-साथ हृदय तत्व का सम्मिश्रण भी आवश्यक है । प्रेम के अंतर्गत देश-प्रेम पर विचार करते हुए शुक्लजी ने लिखा है -

''रसखान तो किसी की 'लकुटी और कामरिया'' पर तीनों पुरों का राज-सिंहासन तक त्यागने को तैयार थे, पर देश-प्रेम की दुहाई देने वालों में से कितने अपने थके-माँदे, फटे-पुराने कपड़ों और धूल से भरे पैरों पर रीझकर या कम से कम न खीझकर बिना मन मैला किये कमरे की फर्श भी मैली होने देंगे ?''

ये भावात्मक स्थल शुक्लजी की भावुकता का परिचय देने में समर्थ हैं ।

2.7.7. विषय-प्रतिपादन तथा भाषा-शैली में भव्यता और विशालता

आचार्य शुक्ल के निबंधों में विषय का प्रतिपादन बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है । शुक्लजी के कथन में अस्पष्टता नहीं आने पाती और प्रत्येक बात स्पट हो जाती है । वे न कभी भी अनावश्यक भूमिकाएँ ही बाँधते हैं और न बे-मतलब की चर्चा ही करते हैं । वे थोड़े से शब्दों में बहुत से भाव भर देते हैं । कुछ लोग शुक्लजी के

निबंधों पर शुष्कता का दोष मढ़ते हैं । परन्तु यह उचित नहीं है । शुक्लजी के निबंधों में गम्भीरता और प्रौढ़ता अवश्य है, शुष्कता नहीं है । अपने विषय के जटिल होने के कारण उनमें गम्भीरता आ जाना स्वाभाविक ही था । फिर हास्य, व्यंग्य और विनोद के सम्मिश्रण ने शुक्लजी के निबंधों को पर्याप्त रोचक बना दिया है ।

2.7.8. निबंधों में निगमन शैली

आचार्य शुक्लजी के निबंध विचारातमक हैं, जो निगमन शैली में लिखे गये हैं । वे पहले अपनी बात सूत्र रूप में कह देते हैं और बाद में उसे स्पष्ट करते हैं । उनके सूत्र में कहे हुए कथन मस्तिष्क पर सीधा प्रभाव डालते हैं । जैसे ''बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है ।'' अथवा ''यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है ।'' यह वाक्य इस प्रकार के हैं, जिनमें थोड़े में बहुत कह दिया गया है ।

शुक्लजी ने तुलनात्मक शैली का भी प्रयोग किया है और शैली की रम्यता बढ़ाने के लिए समान संतुलन के शब्दों और वाक्यों का भी प्रयोग किया है । जैसे ''इधर हम हाथ जोड़ेंगे, उधर वे हाथ छोडेंगे ।'' ''सारांश यह है कि'' वाक्यांश को शुक्लजी ने यथा अवसर प्रयुक्त करके अपनी शैली को सरल ओर सुबोध बना दिया है । जहाँ भी उन्होंने किसी स्थल के विवेचन को कुछ दुरूह देखा, वहीं उन्होंने ''सारांश यह है कि'' - कहकर सारे विवेचन की दुरूहता दूर कर दी है ।

2.7.9. अनेक प्रकार की कथाओं का समावेश

शुक्लजी को जहाँ भी उचित अवसर मिला वहीं पर रोचकता लाने के लिए उन्होंने किसी पौराणिक, ऐतिहासिक, लोक-प्रसिद्धि अथवा स्वयं अनुभव की हुई घटना का उल्लेख कर दिया है । इससे विवेचन में रेचकता तो आ ही गई, साथ ही विषय बोधगम्य भी बन गया है ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि शुक्लजी ने दो प्रकार के निबंध लिखे हैं -

1. भावों तथा मनोविकारों पर, 2. समीक्षात्मक ।

भावों तथा मनोविकारों पर लिखे गये निबंधों की भाषा समीक्षात्मक निबंधों से सरल है । तद्भव शब्दों तथा मुहावरों, कहावतों, उर्दू, अंग्रेजी तक के शब्दों की सत्ता इस भाषा में है । कहीं-कहीं पर फारसी की लोकोक्तियाँ भी दीख पड़ती हैं ।

समीक्षात्मक निबंधों में प्रौढ़ता और गम्भीरता अधिक है । उसमें तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक है । भाषा और शैली कुछ प्रौढ़ है किन्तु शुक्ल जी की भाषा-शैली की सरलता, विषयानुकूलता एवं चुस्ती का ही परिणाम है कि इतने गूढ़ विषयों में अस्पष्टता और रुक्षता नहीं आने पायी है ।

2.8. शुक्ल जी के निबंधों का महत्व

शुक्लजी ने जिस प्रकार के निबंध लिखे हैं, उनसे पूर्व ऐसे निबंधों की सत्ता न थी । भावों और मनोविकारों पर उनके लिखे हुए निबंध हिन्दी के लिये नवीनतम दान है । शुक्लजी से पूर्व मनोविकारों पर कुछ निबंध लिखे अवश्य जा चुके थे, किन्तु उनमें शुक्लजी जैसा सूक्ष्म-निरीक्षण, विश्लेषण और विवेचन नहीं था । बालकृष्ण भट्ट का 'आत्म-निर्भरता', प्रतापनारायण मिश्र का 'मनोयोग', माधवप्रसाद मिश्र का 'धृति और क्षमा' आदि मनोवैज्ञानिक निबंध शुक्ल जी से पहले लिखे जा चुके थे, किन्तु इन निबंधों में भावों के ऊपरी धरातल पर ही दृष्टिपात किया गया था । निबंधकार सूक्ष्म-विवेचन और विश्लेषण तक न पहुँच सके थे । इतना सूक्ष्म विश्लेषण अंग्रेजी के निबंधों तक नें नहीं मिल सकता । इस कारण शुक्लजी का महत्व अपने पूर्ववर्ती निबंधकारों से कहीं अधिक है ।

2.9. समीक्षात्मक निबंध क्षेत्र

इस क्षेत्र में भी शुक्लजी से पूर्व निबंध लिखे जा चुके थे । स्वयं द्विवेदीजी ने 'कवि और कविता' जैसे निबंध प्रस्तुत किये । परन्तु जैसी व्यापकता, प्रौढ़ता, सूझ और गहराई शुक्लजी के निबंधों

में है, वह द्विवेदी तथा अन्य द्विवेदी-कालीन लेखकों में नहीं है । आज निबंध-साहित्य अत्यन्त उन्नतिशील हो गया है । कुछ लेखकों ने शुक्लजी की परम्परा को अपनाकर उत्तम निबंध और आलोचना-साहित्य का सृजन किया है परंतु इसमें भी शुक्लजी का महत्व छिपा हुआ है, क्योंकि इसमें शुक्लजी की मान्यतायें ग्रहण की गई हैं ।

2.10. हिन्दी निबंध क्षेत्र में शुक्लजी का स्थान

पं.बालकृष्ण भट्ट, पं.प्रताप नारायण मिश्र आदि अपने समय के उच्चकोटि के निबंधकार थे । उनकी गणना हिन्दी के सर्वश्रेष्ट निबंधकारों में की जाती है, किन्तु शुक्लजी का महत्व इसलिए बढ़ जाता है कि उन्होंने इस प्रकार की नवीन मान्यताओं से निबंध-क्षेत्र में एक युगान्तर उपस्थित कर दिया । मनोवैज्ञानिक और समीक्षात्मक दोनों प्रकार के निबंध-लेखकों में शुक्ल जी का विशिष्ट स्थान है । परवर्ती लेखन भी शुक्लजी की मान्यताओं को लेकर ही चले । शुक्ल जी ने स्वस्थ आदर्श स्थापित किया और भविष्य के लेखकों को प्रेरणा देकर एक पथ-प्रदर्शन गुरू के कर्तव्य का पालन भी किया । आज बड़े से बड़ा निबंधकार भी शुक्लजी का महत्व स्वीकार करता है और उनका नाम आते ही श्रद्धा से झुक जाता है । वास्तव में हिन्दी-साहित्य को शुक्लजी की देन अपूर्व ओर अमर है । शुक्लजी और उनका साहित्य हिन्दी-जगत में अपना विशिष्ट स्थान बनाए हुए हैं ।

2.11. शुक्ल जी का निबंध - 'करूणा'

इस निबंध में शुक्लजी ने व्यावहारिक दृष्टि से करूणा के स्वरूप और उसकी सामाजिक उपयोगिता का निरूपण किया है -

1. जब व्यक्ति को सम्बन्धित ज्ञान अर्थात् कार्यकारण सम्बन्ध का ज्ञान हो जाता है, उसी समय दुःख के उस भेद की नींव पड़ती है, जिसे 'करूणा' कहते हैं ।
2. परिणाम के विचार से दुःख की श्रेणी में करूणा का उल्टा

क्रोध होता है । करूणा में पात्र के प्रति हानि करने की चेष्टा नहीं की जाती, चाहे उससे सम्बन्धित किसी अन्य वस्तु की हानि हो जावे, जिसके प्रति करूणा उत्पन्न हो जाती है, उसकी भलाई के लिए उद्योग किया जाता है ।

3. करूणा का सम्बन्ध मानव-समाज से होता है । मानव-समाज का दुःख ही करूणा का स्रोत है ।
4. करूणा के लिए करूणा के पात्र में दुःख की स्थिति होना आवश्यक है ।
5. दूसरों के सुख से मनुष्य शायद आनन्दित न हो, परन्तु दूसरे के दुःख उसके हृदय में करूणा के भाव उत्पन्न कर देते हैं । निजी व्यक्ति के प्रति प्रकट की हुई करूणा सहानुभूति कही जाती है ।
6. करूणा का भाव वियोग अर्थात् विरह में विराजमान होता है । प्रिय के वियोग के दुःख को करूणा का रूप दिया जा सकता है ।
7. सामाजिक जीवन की स्थिति को और अधिक पुष्ट करने के लिए करूणा का प्रसार आवश्यक है ।
8. करूणा का पात्र करूणा दिखाने वाले व्यक्ति पर करूणा नहीं करता ।

2.12. करूणा की परिभाषा

जब बच्चे को कार्य कारण सम्बन्ध कुछ-कुछ प्रत्यक्ष होने लगता है, तभी दुःख के उस भेद की नींव पड़ जाती है, जिसे करूणा कहते हैं । जब मनुष्य अपने दुःख से ऊँचा उठकर यह सोचने लगता है कि जैसे मैं दुःखी हूँ, वैसे अन्य भी, तो उसके मन में यह भाव पैदा हो जाता है ।

2.13. करूणा और क्रोध

अपने परिणाम की परम्परा में दुःख का उल्टा क्रोध है । क्रोध में मनुष्य दूसरे का अनिष्ट करता है और करूणा में वह दूसरे की भलाई करता है । चाहे यह पैदा सुख और दुःख से ही है, तथापि

दोनों के परिणाम भिन्न-भिन्न होते हैं । दुःख से पैदा होनेवाले मनोभाव दूसरे की हानि की प्रेरणा दे सकते हैं, पर सुख से उत्पन्न मनोभावों में ऐसा नहीं होता । यद्यपि हम सामाजिक प्राणी हैं और हमारे सुख-दुःख भी परापेक्षी हैं, यहाँ पर हम देखते हैं कि मनुष्य दुःख की अवस्था में तो जातिगत भावनाओं से ऊँचा रहकर दुःखी होता है, पर जब सुख का प्रसंग आता है तो यह केवल अपने संबंधी या मित्र के सुख में ही सुखी होता है । दूसरे से प्राप्त होनेवाले सुख का कोई दूसरा नहीं पाया जाता पर दूसरों के दुःख के परिज्ञान से जो दुःख होता है वह करूणा, दया आदि नामों से पुकारा जाता है । वैसे तो करूणा सब पर होती है, पर अपनों के प्रति उसकी भावना अधिक तीव्र पाई जाती है । किसी सुन्दरी, किसी महात्मा या भाई-बन्धु को दुःखी देखकर हम अधिक दुःखी हो जाते हैं । शायद यह तीव्रता जीवन-निर्वाह की सुगमता ओर कार्य-विधान की पूर्णता के लिए की गई है ।

2.14. करूणा में सात्विकता का प्रसार

मनुष्य की प्रगति में शील और सात्विक भावों का आदि संस्थापक यही मनोविकार है । मनुष्य की सज्जनता और दुर्जनता उसके संसर्ग से ही जाती जाती है । जीवन से दूर रहकर उसके सब कर्म निर्लिप्त होंगे, पर संसार में प्रत्येक प्राणी के जीवन का उद्देश्य दुःख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति है । अब जिन कर्मों से सुख हो, उन कर्मों को सात्विक कर्म कहते हैं । अपने आचरण द्वारा हम दूसरे के सम्भाव्य दुःख का ध्यान या अनुमान, जिसके द्वारा हम ऐसी बातों से बचते हैं, जिनसे अकारण दूसरे को दुःख पहुँचे, शील या साधारण सद्वृत्ति के अन्तर्गत समझा जाता है । पर कई बातें ऐसी होती हैं, जो शील क्षेत्र से निकलकर नियम की दुनियाँ में चली जाती हैं । जैसे असत्य भाषण नहीं करना चाहिए, पर मनोरंजन या किसी दूसरे की रक्षा के लिए किया गया असत्य-भाषण भी बुरा नहीं होता, इसे चाहे नियम में बुरा कहा जाय, पर शील से यह सब ग्राह्य है । इसका कारण हृदय की पवित्रता तथा परोपकार की प्रवृत्ति है ।

यही करुणा शील और सात्विकता प्रदान करती है । किसी व्यक्ति पर यदि हमारे मन में श्रद्धा है तो उसका मूल भी सात्विकता-शीलता ही है । अतः करूणा और सात्विकता का संबंध उस बात से भी प्रमाणित होता है कि किसी पुरूष को दूसरे पर करूणा करते देख तीसरे को करूणा करनेवाले पर श्रद्धा हो जाती है । मनुष्य का आचरण भी मनोवेगों की प्रवृत्ति का परिणाम है, अतः इस क्षेत्र में भाव उमड़ पड़ते हैं और बुद्धि रह जाती है ।

2.15. करूणा और शोक

प्रिय के वियोग से जो दुःख होता है, वह करूणा कहलाता है, क्योंकि उसमें भी दया व करूणा का अंश मिला होता है । वह दूर रहने वाले व्यक्ति के सुख के अभाव की चिन्ता मे प्रकट होती है । राम-जानकी के वन चले जाने पर कौशल्या उनके सुख के अनिश्च पर इस प्रकार दुःखी होती है -

''वन को निकरि गये, दोउ भाई ।
सावन गरजै, भादों बरसै पवन चलै पुरवाई ।
कौन विरछ तर भीजत ह्वै हैं, राम लखन दोऊ भाई ।''

श्री कृष्ण के मथुरा चले जाने पर यशोदा की चिन्ता इस प्रकार व्यक्त होती है -

''प्रात समय उठि माखन रोटी को बिन माँगे दैहैं ?
को मेरे बालक कुँवर कान्ह को छिन-छिन आगे लेहं ?''

वियोग की दशा में गहरे प्रेमियों को प्रिय के सुख का अनिश्चय ही नहीं कभी-कभी घोर अनिष्ट की आशंका होती है । जैसे-एक वियोगिनी स्त्री सन्देह करती है -

''नदी किनारे धुँआ उठत है मैं जानूं कछु होय ।
जाके कारण मैं जली, वही न जलता होय ।।''

प्रिय के वियोग को शोक कहते हैं, पर फिर भी उसमें करूणा का समावेश आवश्यक होता है । शोक और करूणा में विह्वल होकर मानव अपने संबंधियों से किये गये अन्याय के लिए पछताता भी है ।

2.16. करूणा में सामाजिकता

पश्चिम के समाजशास्त्री चाहे आत्मरक्षा की भावना में करूणा को महत्व देते हैं पर वास्तव में यह सत्य नहीं, क्योंकि मनुष्य किसी के प्रति आज करूणा करके आनेवाले युग में उससे करूणा की कामना नहीं करता, यदि ऐसा होता तो वह निर्बल पर करूणा न करके सदा बलवानों पर करूणा करता, पर ऐसा होता नहीं है । कभी-कभी मानव दूसरों को कष्ट में देखकर दुःखी तो होता है, पर करूणा नहीं करता । वह सहानुभूति कहलाती है । आज तो सहानुभूति केवल आड़म्बर मात्र हो गई है । अन्य भावों के समान करूणा की प्रतिभावना करूणा नहीं होती । सीमित स्थान विशेष के ज्ञान की परिधि को लाँघकर स्मृति, अनुमान और ज्ञान से मानव, देश और काल का विस्तार करता है । किसी को मार खाते देखकर हमें दुःख होता है पर उसके अपराधों की लम्बी कहानी सुनकर हमारा वह भाव समाप्त हो जाता है । मन की रागात्मक क्रिया इन मनोवेगों को विस्तृत और सीमित करती रहती है । इन मनोवृत्तियों का दमन नहीं किया जा सकता, जब कि संसार की सभी वस्तुओं के मूल में मनोवृत्तियाँ ही कार्य करती हैं । कवि इसी से आत्म-विस्तार कर प्रकृति से संबंध स्थापित करता है, पर यदि इनका सही उपयोग न किया जाए तो ये मनोभाव कुण्ठित हो जाते हैं ।

2.17. करूणा का नियन्त्रण

आवश्यकता, नियम और न्याय करूणा को नियन्त्रित करते हैं । नौकर की आवश्यकता नहीं या वह अशक्त अथवा बूढ़ा है तो आवश्यकता के आधार पर करूणा का दमन करके हमें उसको हटाना ही पड़ता है । 'नियम' में भी मानव दूसरों पर तो क्या अपने प्रिय पर भी अकरूण हो जाता है, जैसे हरिश्चन्द्र ने अपनी पत्नी से कफन माँगा था । न्यायाधीश करूणामय होते हुए भी न्याय के वश में होकर निष्टुर बन जाता है । इस प्रकार करूणा जीवन में आवश्यकता, नियम और न्याय सापेक्ष हो जाती है ।

2.18. करूणा की उत्पत्ति

बच्चों को जब कार्य-कारण संबंध ज्ञान का आभास होने लगत है तब से ही करूणा रूपी मनोवेग उसमें जन्म ले लेता है । जब बालक को यह ज्ञान हो जाता है कि जिस प्रकार किसी कष्ट से उसे दुःख होता है उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी दुःख होता ही होगा । जब उसे धीरे-धीरे कार्य कारण का अभ्यास हो जाता है तब दूसरे के दुःख को और उसके कारण को देखकर वह एक प्रकार के दुःख का अनुभव हरता है । इसी दुःख का नाम करूणा है । बहुधा देखा जाता है कि किसी बच्चे के सामने उसके बड़े भाई को यदि पीटा जावे तो वह रो पड़ता है, उसका यहाँ इस प्रकार से रोना करूणा के कारण ही होता है । उसे दूसरे के दुःख का अनुमान होने लगता है ।

करूणा और क्रोध दोनों का ही मन से संबंध होता है । किन्तु दोनों में बहुत अन्तर होता है, बल्कि यदि दोनों को एक दूसरे का उल्टा भी कर दें तो भी उचित ही होगा । क्रोध का लक्ष्य क्रोध पात्र को जिस पर हम क्रोध करते हैं, हानि या पीड़ा पहुँचाने का होता है । जिसे क्रोध आता है वह ऐसे प्रयत्न करता है जिसमें सामने के व्यक्ति को किसी न किसी प्रकार की हानि पहुँच जावे । लेकिन करूणा में सदैव उसका उल्टा होता है । जिस पर करूणा की जाती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है । उसे किसी न किसी प्रकार की सहायता पहुँचाने का प्रयत्न किया जाता है । किसी भी भलाई चित्त के दुःखी अथवा प्रसन्न दोनों ही स्थितियों में करते हैं, आनन्द और दुःख को वर्गों में बाँट देने पर हम देखेंगे कि आनन्द के वर्ग में ऐसा कोई मनोविकार नहीं जिसके द्वारा व्यक्ति को हानि पहुँचाने का प्रयास किया जाय, किन्तु दुःख के वर्ग में ऐसा भी मनोविकार है, जो हमें व्यक्ति की भलाई की प्रेरणा देता है । लोभ आनन्द की श्रेणी में आता है । जिस वस्तु से हमें लाभ होगा उसकी प्राप्ति में बाधा डालने वाले दूसरों को भले ही हानि पहुँच जाय किन्तु अपने लोभ की वस्तु को हम कभी हानि नहीं पहुँचायेंगे । लोभी महमूद गजनवी ने सोमनाथ मन्दिर को तोड़ा, लूटा, किन्तु अपने लोभ की वस्तु हीरे-जवाहरातों को बहुत सम्हाल कर रखा । इसी प्रकार

बादशाह जहाँगीर ने नूरजहाँ के पति को मरवाया किन्तु नूरजहाँ को सुख से रखा ।

2.19. सामाजिक जीवन में करूणा का महत्व

मानव एक सामाजिक प्राणी है । वह समाज में इस कारण रहता है कि समाज उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है ओर वह समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है । यह बात नितान्त रूप से सत्य है कि जब मनुष्य समाज में निवास करने लगता है तब दूसरों के सुख और दुःख का उस पर असर पड़ता है । वह दूसरों के दुःख में दुखी और उनके सुख में सुखी होता है । इसका मुख्य कारण यह है कि मनुष्य सहृदय प्राणी है । स्वाभाविक रूप से वह दूसरों को स्वयं से प्रभावित और दूसरों से स्वयं प्रभावित होता रहता है । सुख और दुःख मानव-जीवन के दो प्रमुख तत्व हैं । यदि इन्हें निकाल दिया जाय तो मानव-जीवन शून्य हो जाता है । इन दोनों ही प्रेरक शक्तियों से मनुष्य-जीवन अपना महत्व कायम रख सकता है । हम दूसरों के दुःख से जितनी मात्रा में दुःखी होते हैं उतनी मात्रा में दूसरों के सुख से सुखी नहीं होते । यहाँ तक देखा गया है कि हम अनजान व्यक्ति के दुःख से दुःखी हो जाते हैं और तब तक बराबर दःखी बने रहते हैं, जब तक हमें यह ज्ञान न हो जाय कि सताया गया व्यक्ति अपराधी या अत्याचारी है । जब हमें उसकी जानकारी प्राप्त हो जावेगी, तभी हम उसके प्रति करूणा करना बन्द करेंगे । करूणा के लिए व्यक्ति के दुःख के अलावा अन्य किसी गुण की जरूरत नहीं पड़ती । यदि किसी व्यक्ति को दुःख पहुँचा, हमें इतनी ही जानकारी प्राप्त हो जावे तो हमारी करूणा उसी समय से आरम्भ हो जाती है । यदि वह व्यक्ति हमारा मित्र, संबंधी या रिश्तेदार हो तो हमारी करूणा की मात्रा में फर्क पड़ जाता है । किन्तु जब हम सुख के विषय पर गहन विचार करते हैं तब यह पाते हैं कि साधारण मनुष्य के लाभ या सुख की खबर सुनकर हम आनन्दित नहीं होते । हमारी मानसिक स्थिति का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । इस प्रकार कहने का तात्पर्य यह निकलता है कि दूसरों के दुःख से दुःखी

होने का नियम जितना व्यापक है, उतना दूसरों के सुख से सुखी होने का नहीं । उसके अतिरिक्त मुख्य बात यह भी है कि दूसरों के सुख से परिचित होने पर हमें जो आनन्द आता है उसका कोई नाम नहीं रखा गया है, किन्तु दूसरों के दुःख से दुःखी होने पर हमें जो दुःख प्राप्त होता है उसी का नाम करूणा है । उसे दया, कृपा और करूणा तीनों ही नाम से पुकारा जाता है ।

2.20. करूणा और सामाजिक जीवन

करूणा शब्द तीन अक्षरों से मिलकर बना है । इसका सीधा संबंध मानव-मन से होता है । जिस प्रकार हमारे मनोविकार, समय और परिस्थिति के अनुसार जागृत होते रहते हैं, इसी प्रकार करूणा नामक मनोविकार भी जागृत होता रहता है । इसके कुछ उपनाम भी हैं जैसे-दया, कृपा आदि । परन्तु मुख्य नाम इसका करूणा ही है । बचपन से ही हमारे चित्त की वृत्ति में इसका जन्म हो जाता है । जब बालक को दूसरे के दुःख का अनुमान होने लगता है तब से ही करूणा का विकास होने लगता है । करूणा के कारण ही मनुष्य में अनेक गुण जैसे शील और सात्विकता का विकास होता है । करूणा के आधार पर तो मनुष्य की पहचान की जाती है । जिसके हृदय में करूणा, दया या ममता नहीं होती है, उसे मानव की श्रेणी में ही नहीं गिना जाता है । जिस मनुष्य के आचरण में करूणा का अभाव होता है, उसे अन्य लोगों की श्रद्धा प्राप्त नहीं हो सकती । जितने भी संसार में महापुरूष हुए हैं, उनमें करूणा का गुण बहुत बड़ी मात्रा में विद्यामान रहा । मनुष्य की सज्जनता और दुर्जनता का ज्ञान संसर्ग या संबंध में आने से ही होता है । जो व्यक्ति जंगल में निवास करता है उसके कार्यों का प्रभाव किसी पर भी नहीं पड़ेगा । संसार का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है । हर मानव सुखों की वृद्धि के लिए सहनशील दिखाई पड़ता है । मानव का स्वभाव यह भी है कि वह दुःखों से छुटकारा प्राप्त करना चाहता है । यदि मानव मात्र के दुःख और सुख के उद्देश्यों का योग लगाकर देखा जाय तो संसार का उद्देश्य सुखों की स्थापना करना अधिक उचित है । दूसरों का भला

करने से बढ़कर कोई धर्म नहीं होता है । इसी कारण तुलसी ने लिखा है, ''परहित सरिस धर्म नहीं भाई'' अर्थात् दूसरों का भला करने से बढ़कर कोई धर्म नहीं है । करूणा मानव का एक ऐसा गुण है, जिससे उसके अन्य गुणों की पहचान की जाती है । जिसमें करूणा के भाव मौजूद होते हैं वह सब जगह आदर पाता है । हिन्दी-साहित्य में करूणा के आधार पर ही करूण रस की उत्पत्ति हुई है । बड़े-बड़े महाकाव्यों की रचना इसी आधार पर हुई है। साहित्यकारों में विशेष रूप से करूणा का गुण पाया जाता है और वे अपनी साहित्यिक कृतियों के माध्यम से अन्य लोगों में भी करूणा का उदय करना चाहते हैं । किसी भी दृष्टि से परखा जावे तो दूसरों का दुःख दूर करना एक बहुत बड़ा गुण होता है । वह भी क्या करना एक बहुत बड़ा गुण होता है । वह भी क्या मानव है जिसका दिल अन्य लोगों के कष्ट को देखकर न पिघले ।

करूणा अपना बीज अपने आलम्बन या पात्र में नहीं फेंकती है अर्थात् जिस पर करूणा की जाती है वह बदले में करूणा करनेवाले पर भी करूणा नहीं करता जैसा कि क्रोध और प्रेम में होता है । वह करूणा करनेवाले के प्रति कृतज्ञ होता है, प्रीति करता है । बहुत-सी उपन्यास की कथाओं में यह देखने को मिलता है कि रमणीय युवतियाँ दुष्टों के हाथ से अपना उद्धार करनेवाले युवकों के प्रेम में फँस जाती है ।

यह सत्य बात है कि मनोवेग का उत्पन्न होना अलग बात है और उसके अनुसार कार्य करना अलग बात है । यदि कोई मनुष्य अवश्यकतावश कोई कठिन कार्य आरम्भ कर दे तो दो-चार बार ही उसे दया के भाव प्रभावित कर जावेंगे बाद में उनकी दया की वृत्ति मारी जावेगी । बहुत से ऐसे अवसर आ पड़ते हैं जिनमें करूणा आदि मनोवेगों के अनुसार काम नहीं किया जा सकता । मान लीजिये हमारा कोई नौकर बहुत बूढ़ा और अशक्त हो गया है जिससे हमारे काम में हर्ज होता है, हमं उसकी अवस्था पर दया होती है, पर

आवश्यकता के अनुरोध में उसे अलग करना पड़ता है । राजा हरिश्चन्द्र ने अपनी रानी शैव्या से अपने ही मृत पुत्र के लिये कफन का टुकड़ा फड़वा कर नियम का अद्‌भुत पालन किया था । यदि शैव्या के स्थान पर कोई दूसरी स्त्री होती राजा हरिश्चन्द्र के उस नियम-पालन का उतना महत्व न दिखाई पड़ता । करूणा ही लोगों की श्रद्धा को अपनी ओर अधिक खींचती है । करूणा का विषय दूसरे का दुःख है अपना दःख नहीं । न्याय और करूणा का प्रायः विरोध सुनने में आता है । यदि किसी से हमने एक हजार रूपये लिए हैं तो न्याय यह है कि उसे लौटा देना चाहिए । यदि किसी ने कोई अपराध किया है तो उसे दण्ड मिलना चाहिए । लेकिन उन कर्जदार पर कोई आपत्ति पड़ी है और उसकी दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई तो न्याय पाने के विचार का विरोध करूणा कर सकती है । इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवन में करूणा का बहुत महत्व है ।

2.21. समाहार

प्रस्तुत इकाई के अंतर्गत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के जीवन, व्यक्तित्व तथा उनकी साहित्यिक महत्ता का विशद परिचय दिया गया है । तदुपरांत उनके द्वारा लिखित 'करूणा' नामक निबंध का विवेचन करते हुए जीवन में उसके महत्व का प्रतिपादन किया गया है ।

2.22. बोधप्रश्न

1. शुक्लजी का संक्षिप्त जीवन-परिचय देते हुए उनके साहित्य पर प्रकाश डालिए ।
2. आचार्य शुक्ल के निबंधों की विशेषताएँ बताइए ।
3. हिन्दी निबंध-क्षेत्र में शुक्लजी का स्थान निर्धारित कीजिए ।
4. 'करूणा' की परिभाषा देते हुए करूणा की उत्पत्ति पर विचार कीजिए ।
5. सामाजिक जीवन में करूणा के महत्व को समझाइए ।

NOTES

NOTES

इकाई तीन : आचार्य शुक्ल के निबंध -'श्रद्धा-भक्ति' और 'उत्साह'

इकाई की रूपरेखा

3.0. उद्देश्य

3.1. प्रस्तावना

3.2. श्रद्धा-भक्ति

3.2.1.श्रद्धा और प्रेम

3.2.2.श्रद्धा एक सामाजिक भाव है

3.2.3.श्रद्धा के भेद

3.2.4.भक्ति का स्वरूप भगवद् भक्ति

3.2.5.श्रद्धा-भक्ति में अंतर

3.2.6.शैली की दृष्टि से कलात्मकता

3.2.7.श्रद्धा-प्रेम में अंतर

3.2.8. श्रद्धा और भक्ति के अंतर का स्पष्टीकरण

3.3. उत्साह

3.3.1.भय और उत्साह

3.3.2.उत्साह के भेद

3.3.3.सच्चे उत्साही

3.3.4.उत्साह में साहस और आनंद

3.3.5.निबंध (उत्साह) की विशेषताएँ

3.3.6.उत्साह की व्याख्या

3.3.7.मनोभावों का सूक्ष्म भेद और संबंध

3.3.8. कर्म और फल से उत्साही व्यक्ति का संबंध

3.3.9. उत्साह की परिभाषा

3.3.10. प्रयत्नों के आधार पर उत्साह के भेद

3.3.11. उत्साह और आशा का अंतर

3.3.12. उत्साह और फल का संबंध

3.4. समाहार

3.5. बोध प्रश्न

3.0. उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के दो निबंधों - 'श्रद्धा-भक्ति' और 'उत्साह' का विस्तृत विवेचन किया जा रहा है, जिसके अध्ययन के उपरांत आप -

1. श्रद्धा और भक्ति की परिभाषा से परिचित होंगे ;
2. श्रद्धा और प्रेम में अंतर समझ पायेंगे ;
3. श्रद्धा और भक्ति में अंतर समझ पायेंगे ;
4. श्रद्धा के प्रकारों से परिचित होंगे ;
5. भय और उत्साह में अंतर समझ पायेंगे ;
6. उत्साह के भेद की जानकारी प्राप्त करेंगे ;
7. उत्साह की परिभाषा से परिचित होंगे ;
8. मनोभावों का सूक्ष्म भेद और संबंध को समझ पायेंगे ;
9. 'उत्साह' निबंध की विशेषताओं को समझ पायेंगे ।

3.1. प्रस्तावना

शुक्लजी ने श्रद्धा-भक्ति मनोविकारों के उद्‌भव, स्वरूप व सामाजिक महत्व का विवेचन 'श्रद्धा-भक्ति' शीर्षक के निबंध में किया है । उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि श्रद्धा, महत्व की आनंदपूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ पूज्य बुद्धि का संचार है ; यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है ।

शुक्लजी ने 'उत्साह' शीर्षक निबंध में उस भाव का व्यावहारिक विवेचन किया है । उन्होंने इस निबंध में यह बताया है कि उत्साह एक महत्वपूर्ण मनोविकार है और मनुष्य के कल्याण में इसका विशेष महत्व है । उत्साह के भेद बताते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि जहाँ एक ओर साहस होता है, वहीं दूसरी ओर मन की दृढ़ता और लगन का भी समावेश रहता है । उत्साह के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति अपने कार्य में साहस एवं प्रसन्नतापूर्वक प्रयत्नशील हो । इस प्रकार शुक्लजी ने इस निबंध में उत्साह के स्वरूप का स्पष्ट निर्देशन किया है ।

इन दोनों निबंधों का विस्तृत परिचय निम्नांकित है ।

3.2. श्रद्धा-भक्ति

अलोच्य निबंध में शुक्ल जी ने श्रद्धा-भक्ति मनोविकारों के उद्‌भव, स्वरूप और महत्व की विवेचना की है । यह विवेचन मनोवैज्ञानिक न होकर व्यावहारिक है ।

मनुष्य जब किसी दूसरे मनुष्य में जनसाधारण से विशिष्ट गुणों अथवा शक्ति का उत्कर्ष देखता है, तब उसके प्रति जो एक स्थायी आनंद-पद्धति के साथ पूज्य और विनीत भाव जागृत होता है, उसे श्रद्धा कहते हैं । किसी व्यक्ति को जब हम बडा वीर, बडा सज्जन, बड़ा गुणी, बड़ा विद्वान, बड़ा परोपकारी, बड़ा धर्मात्मा देखते हैं, तब वह हमारे हृदय के आनन्द का विषय हो जाता है । उससे किसी प्रकार का स्वार्थ न रहने पर भी हम सदा उसका भला चाहते हैं और उसकी समृद्धि देखकर प्रसन्न होते हैं । हमारे हृदय में उसके प्रति पोषित जो आनन्द पद्धति है, इसी कारण हम उसकी निन्दा सहन नहीं कर पाते । क्योंकि उसकी निन्दा से हृदय में पोषित आनन्द-पद्धति को आघात लगता है ।

शुक्ल जी ने श्रद्धा की परिभाषा इस प्रकार की है - ''किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण व शक्ति का विकास देख उसके सम्बन्ध में जो स्थायी आनन्द-पद्धति हृदय में स्थापित हो जाती है ; उसे श्रद्धा कहते हैं । श्रद्धा महत की आनन्दपूर्ण स्वीकृति के साथ पूज्य बुद्धि संचार है ।''

3.2.1. श्रद्धा और प्रेम

श्रद्धा और प्रेम में अन्तर है, दोनो का अन्तर शुक्ल जी ने निम्न प्रकार निरूपित किया है -

1. प्रेम में प्रिय के गुण और कर्मों का उतना महत्व नहीं होता, जितना कि श्रद्धा में । प्रेम कभी-कभी किसी के सुन्दर रूप मात्र को देखकर उत्पन्न हो जाता है, परन्तु श्रद्धा किसी व्यक्ति

में विशिष्ट गुणों का उत्कर्ष देखकर ही होती है । प्रेम के लिए इतना ही आवश्यक है कि कोई हमें अच्छा लगे परन्तु श्रद्धा में दृष्टि रूप-सौन्दर्य पर न जाकर विशिष्ट गुणों पर जाती है । श्रद्धा किसी के प्रति तभी जागृत होगी, जबकि वह किसी विशिष्ट गुण में बड़ा होने के कारण हमारे सम्मान का पात्र हो ।

2. प्रेम का क्षेत्र सीमित है, उसमें एकान्तता है, जबकि श्रद्धा का क्षेत्र विस्तृत है । किसी मनुष्य से प्रेम करने वाले दो-चार ही मिलेंगे, जबकि उस पर श्रद्धा करने वाले असंख्य होंगे । कर्मों से कर्ता की स्थिति ऐसी मनोहर हो जाती है कि उस पर मुग्ध होकर बहुत से प्राणी उन कर्मों की ओर प्रेरित होते हैं । इस प्रकार कर्त्ता अपनी सद्वृत्तियों के उत्कर्ष से आकर्षण का शक्ति-केन्द्र बन जाता है । प्रेम में ऐसा नहीं होता । यदि प्रेमी के प्रिय की ओर अन्य भी आकर्षित होकर प्रेम करने लगें, तो द्वन्द्व उत्पन्न हो जायेगा । प्रिय का चिन्तन हम आँखे मूँदे हुए संसार को भुलाकर करते हैं पर श्रद्धेय का चिन्तन आँखे खोले हुए संसार का कुछ अंश सामने रखकर करते हैं । ''यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण ।''

3. प्रेम में प्रेमी और प्रिय दो ही पक्ष होते हैं, जबकि श्रद्धा में श्रद्धेय और श्रद्धालु के बीच मध्यस्थ के रूप में गुण भी रहता है । चित्रकार का चित्र, कवि का काव्य, मूर्तिकार की मूर्ति की सुंदरता और गुण विशिष्टता ही हमारे हृदय में चित्रकार, कवि और मूर्तिकार के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करती है ।

4. प्रेम जहाँ व्यक्ति प्रधान होता है, वहाँ श्रद्धा में व्यक्ति का कर्म । श्रद्धा में श्रद्धेय के कर्मों पर होती हुई दृष्टि श्रद्धेय पर पहुँचती है, परन्तु प्रेम में प्रिय के कर्मों पर रहती हुई प्रिय पर पहुँचती है । प्रेम का कारण बहुत कुछ अनिर्दिष्ट और अज्ञात होता है, जबकि श्रद्धा का कारण निर्दिष्ट और ज्ञात होता है ।

5. प्रेम स्वानुभव पर आधारित होता है, जबकि श्रद्धा दूसरों के अनुभव से भी उत्पन्न होती है । उदाहरण के लिए किसी के

रूप-सौन्दर्य को सुनकर उसके प्रति श्रद्धा हो सकती है, परन्तु प्रेम नहीं । प्रेम तभी होगा जबकि उसके प्रति सान्निध्य और लगाव का अनुभव हो ।

6. श्रद्धा सामाजिक भाव है, जबकि प्रेम सामान्यतः व्यक्तिगत भाव होता है । किसी व्यक्ति में उदारता, परोपकारिता, दानशीलता आदि लोकोपकारी गुणों की चर्चा सुनकर हम उसके प्रति श्रद्धा करने लगेंगे । परंतु प्रेम उसी व्यक्ति के प्रति होगा, जिसको देखकर उस पर मन आकर्षित हुआ हो ।

7. श्रद्धालु श्रद्धेय पर एकाधिकार नहीं चाहता । उसकी तो यही इच्छा रहती है कि उनके श्रद्धेय पर अधिक जन-समाज श्रद्धा करे परन्तु प्रेमी यह कभी नहीं चाहेगा कि उसके प्रिय को अन्य लोग भी प्रेम करें ।

8. श्रद्धा में सामाजिकता और लोक-मंगल की भावना रहती है । श्रद्धेय के कर्मों से लोकमंगल की ऐसी वृष्टि होती है कि जिसके आनन्द की जलराशि से जन-जन का मानस आर्द्र हो जाता है । श्रद्धा की पावन हृदय से स्वार्थ और संकीर्णता निकाल देती है । प्रेम में प्रेमी आँखें मूँदकर संसार को विस्मृत कर प्रिय के प्रेम में निमग्न रहता है ।

3.2.2. श्रद्धा एक सामाजिक भाव है

श्रद्धा एक सामाजिक भाव है । श्रद्धा के बदले हम श्रद्धेय से कुछ नहीं चाहते । श्रद्धा धारण करते हुए हम स्वयं को उस समाज में समझते हैं जिसमें किसी अंश पर चाहे हम व्यक्ति रूप में उसके अन्तर्गत न भी हों, जानबूझकर उसने कोई शुभ प्रभाव डाला, श्रद्धा स्वयं ऐसे कामों के प्रतिकार में होती है । जिनका शुभ प्रभाव सारे समाज पर पड़ता हो । श्रद्धा एक ऐसी आनन्दपूर्ण कृतज्ञता है, जिसे हम समाज के प्रतिनिधि रूप में प्रकट करते हैं । श्रद्धा की सामाजिकता इसी से स्पष्ट है कि हम चाहते हैं कि हमारा श्रद्धेय सारे समाज का श्रद्धेय बन जाये । श्रद्धा सामाजिक जीवन के उत्थान और विकास के लिए महत्वपूर्ण है । श्रद्धा जीवन की कठिनाइयों से

पथ-प्रदर्शन करती है । श्रद्धा की भी एक सीमा है । अंध-श्रद्धा हानिकार होती है जो व्यक्ति श्रद्धा का पात्र नहीं है, उसके प्रति श्रद्धा का व्यक्ति होना सामाजिक बुराई का प्रसार करना है । ढोंगियों और पाखंडियों के प्रति श्रद्धा रखना उचित नहीं है । कुछ लोगों में अपनी स्वार्थ-लोलुपता के कारण श्रद्धा करने का दुर्व्यसन ही हो जाता है । जिससे उनका स्वार्थ-सिद्ध नहीं होता, उसके लोकोपकारी कार्यों में भी वे रोड़े अटकाते हैं । ऐसे स्वार्थी और लोभी श्रद्धालुओं से सावधान रहने की आवश्यकता है । किसी पर श्रद्धा करने से पूर्व यह भी ध्यान रखना चाहिए कि हमारी श्रद्धा को खुशामद तो नहीं समझता । श्रद्धा में प्रतिदान नहीं होता । प्रतिदान की भावना श्रद्धा की पावनता को नष्ट कर देती है ।

3.2.3. श्रद्धा के भेद

स्थूल रूप में श्रद्धा के तीन भेद होते हैं ।

1. प्रतिभा सम्बन्धिनी श्रद्धा
2. शील सम्बन्धिनी श्रद्धा और
3. साधन सम्पत्ति सम्बन्धिनी श्रद्धा ।

1. प्रतिभा सम्बन्धिनी श्रद्धा

जब हम देखते हैं कि कोई व्यक्ति अपनी प्रतिभा से कला, विज्ञान आदि के क्षेत्र में अपनी मौलिक उद्‌भावनाओं और खोजों के द्वारा आगे बढ़ गया है, तब उसके प्रति हमारी स्वतः श्रद्धा जागृत हो जाती है । इसके लिए श्रद्धालु में भी ऐसी सामर्थ्य और कला-मर्मज्ञता का गुण होना चाहिए कि वह कला का आस्वादन और मूल्यांकन कर सके । बहुत से संकीर्ण और स्वार्थी मनोवृत्ति के लोग कलाकारों की कला के प्रति समुचित आदर प्रकट नहीं करते । इस प्रकार कलाकारों के प्रति अश्रद्धा करके सामाजिक हानि करते हैं ।

2. शील सम्बन्धिनी श्रद्धा

शील सम्बन्धिनी श्रद्धा सात्विक गुणों पर आधारित है । किसी में शील सम्बन्धिनी गुणों को देखकर उनके प्रति श्रद्धा हो जाती है ।

शील और सद्‌गुणों के समक्ष शुद्ध सात्विक अंतःकरण का नमित होना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है । प्रतिभा सम्बन्धिनी श्रद्धा में लोग रूचि-भेद के नाम पर किसी कलाकार विशेष के प्रति श्रद्धा करने से बच सकते हैं, परन्तु शील सम्बन्धिनी श्रद्धा में रूचि-भेद का प्रश्न नहीं होता । शीलवान के समक्ष प्रत्येक का हृदय सहज ही नमित हो जाता है ।

3. साधन सम्पत्ति सम्बन्धिनी श्रद्धा

इसमें किसी व्यक्ति पर श्रद्धा उसकी साधन-सम्पन्नता पर होती है । साधन सम्बन्धिनी श्रद्धा का सदुपयोग और दुरूपयोग दोनों ही हो सकते हैं । यदि किसी के भाव शिक्षा द्वारा उन्नत हैं और वह सहृदय भी है, तो वह सुन्दर और भावपूर्ण काव्य की रचना करेगा । अन्यथा वह भद्दी और कुरूचिपूर्ण भावनाओं को ही छन्दोबद्ध करेगा । ऐसे व्यक्ति पर जो श्रद्धा होगी वह साधन सम्पन्नता पर होगी न कि साध्य की पूर्णत पर । देशी कारीगरी, चित्रकारी, संगीत आदि में नियम-पालन के अभ्यास द्वारा प्राप्त साधन-सम्पन्नता पर श्रद्धा होती है । मधुर संगीत और नाद पक्के गवैयों के हाथ में पड़कर स्वर-ग्राम की लम्बी-चौड़ी कवायद भर रह गया है । इस कवायद के प्रति श्रद्धा करना श्रद्धा का दुरूपयोग ही होगा । शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति जब अपनी शक्ति से संकट-ग्रस्तों की रक्षा करता है तब उसकी शक्ति-साधन-सम्पन्नता पर सहज ही श्रद्धा हो जाती है, परन्तु जब वह अपनी शक्ति-सम्पन्नता से निरपराधों को सताता है, तब उसके प्रति श्रद्धा करना श्रद्धा का दुरूपयोग होगा । अतः हमारी श्रद्धा उस व्यक्ति के प्रति होनी चाहिए जो साधन-सम्पन्नता का सदुपयोग करे ।

श्रद्धा के उपर्युक्त तीनों प्रकारों में शील सम्बन्धिनी श्रद्धा ही उत्तम है । शील या धर्म से समाज की स्थिति, प्रतिभा से रंजन और साधन-सम्पन्नता से शील साधन और प्रतिभा विकास दोनों की सम्भावना है ।

3.2.4. भक्ति का स्वरूप भगवद् - भक्ति

''श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है ।'' भक्ति का प्रस्फुटन श्रद्धालु के हृदय में तभी होता है जब उसके हृदय में श्रद्धेय के प्रति पूज्य भाव अत्यधिक बढ़ जाता है । वह उसका सामीप्य और सन्निकटता पाने के लिए आतुर हो उठता है । हृदय में भक्ति का संचरण तभी समझना चाहिए जबकि श्रद्धेय के दर्शनों से नेत्र आनन्द विभोर हो उठें, उसके गुण श्रवण से हृदय वीणा झंकृत हो उठे । हृदय में उसकी मूर्ति अवस्थित कर सुख-शांति और आनन्द की प्राप्ति हो तथा उसका स्तुति वन्दन से मन मयूर नृत्य कर उठे । श्रद्धेय मनुष्य के जिस गुण को देखकर हृदय में स्थायी आनन्द की स्थापना करता है उन्हीं को वह परमात्मा में देखता है और शील, शक्ति और सौंदर्य के चरमोत्कर्ष की कल्पना कर भगवान की भक्ति में तन्मय हो जाता है । राम और कृष्ण में इन्हीं गुणों का चरमोत्कर्ष देखकर वह उनको ईश्वर कहता है । भक्त, श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म निवेदन के द्वारा ईश्वर के प्रति अपनी भक्ति प्रकट करता है । हमारे राम-कृष्ण आदि अवतारों के कर्म सौन्दर्य की छटा उनको सम्पूर्ण रूप से आभासित करती है ।

3.2.5. श्रद्धा-भक्ति में अंतर

1. भक्ति में निकटता आवश्यक है जबकि श्रद्धा व्यक्ति से दूर रहकर भी हो सकती है ।
2. श्रद्धा में आश्रय के प्रति श्रद्धालु की पूज्य भावना होना ही यथेष्ट है, किंतु भक्ति में उपासक को उपास्य के कर्मों में सहयोग देना आवश्यक है । भक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने कर्मों का कुछ अंश आराध्य के चनणों में समर्पित करे ।
3. श्रद्धा में श्रद्धालु श्रद्धेय के महत्व के किसी अंश का अधिकारी नहीं होता, किंतु भक्ति में उपास्य के महत्व के किसी अंश का उपासक अधिकारी होता है । पवनपुत्र हनुमान ने राम पर अनन्य और एकनिष्ट भक्ति रखी और वे अनन्य राम-भक्ति के अधिकारी हुए ।

4. श्रद्धा में श्रद्धालु श्रद्धेय के महत्व को स्वीकार करता है, किंतु भक्त अपने आराध्य के महत्व की ओर अग्रसर होता है ।

लोक-हित की दृष्टि से भक्ति का महत्व कम नहीं है । भक्ति में भक्त आराध्य के महत्व को स्वीकार करने के साथ-साथ अपना लघुत्व भी स्वीकार करता है । इस प्रकार भक्ति आदर्श-पथ पर चलने के लिए पथ-प्रदर्शन करती है । इष्टदेव के चरणों में भक्ति रखते समय हमारी दृष्टि उन प्राणियों पर भी पड़ती है । जिसमें उन गुणों का लेशमात्र भी नहीं है और ऐसे प्राणियों पर दृष्टि डालते ही अपने इष्टदेव हमारे नेत्रों के समक्ष आ जाते हैं । रावणत्व को सामने रखने से रामत्व का महत्व प्रतिपादित और प्रकाशित होता है ।

3.2.6. शैली की दृष्टि से कलात्मकता

अलोच्य निबन्ध में श्रद्धा और भक्ति का विवेचन सामाजिक उपादेयता की दृष्टि से हुआ है । भाषा-शैली की दृष्टि से आलोच्य निबन्ध शुक्ल जी की भाषा-शैली की समस्त विशेषताएँ लिए हुए है । सूत्रात्मकता, सामाजिकता, समान स्वभाव वाले तत्वों की तुलना, व्याख्या, मानवतावादी दृष्टिकोण आदि सभी कुछ आलोच्य निबन्ध में प्रकाशित हुआ है । निबन्ध के सम्बन्ध में शुक्ल जी की मान्यताओं की कसौटी की दष्टि से यह प्रतिनिधि निबन्ध है ।

3.2.7. श्रद्धा - प्रेम में अंतर

बहुत से व्यक्तियों में जन-साधारण से अधिक गुण पाये जाते हैं । मर्यादा पुरूषोत्तम राम की शील-शक्ति देखकर, सत्यवादी हरिश्चन्द्र की सत्यवादिता और महात्मा गाँधीजी की परोपकारीता को देखकर हमारे हृदय में आनन्द भावों का अनुभव होने लगता है । इस प्रकार आनन्द की प्राप्ति होने पर हम उनके प्रशंसक बन जाते हैं । यदि उसकी कोई बुराई करता है तो हम उसे सहन नहीं कर सकते । इस प्रकार के कार्य हम निःस्वार्थ होकर ही करने लगते हैं । ''किसी मनुष्य विशेष में जन-साधारण से अधिक गुण पाये जावें और उनसे हमें स्थायी आनन्द की प्राप्ति हो उसे ही हम श्रद्धा कहते हैं ।''

श्रद्धा और प्रेम दोनों एक नहीं हो सकते । दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है । हम किसी के रूप, भाव को देखकर भी उससे प्रेम करने लगते हैं । अंगों की सुडौलता और सुन्दरता के ही कारण हमारे हृदय में प्रेम के भावों का उद्रेक हो जाता है, परन्तु श्रद्धा किसी के रूप मात्र को देखकर उत्पन्न नहीं होता । उसके लिए गुणों का होना आवश्यक है । गुण के प्रभाव से ही वह व्यक्ति हमारा श्रद्धा-भाजन बन जाता है । श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध ने ठीक ही कहा है -

''स्वरूप होता जिसका न भव्य है,
कार्य होते जिसके मनोज्ञ है ।''
''अतीव प्यारा बनता सदैव है,
मनुष्य स्वयं गुण के प्रभाव से ।''

बहुत से व्यक्ति ऐसे हैं जिनको हमने नहीं देखा, परन्तु फिर भी हम उनके प्रति श्रद्धा करने लगते हैं । श्रद्धा के लिए कर्म का होना आवश्यक है ।

किसी व्यक्ति से प्रेम करने वाले बहुत से नहीं मिलेंगे, प्रेम करने वाले तो दो ही एक आदमी होंगे, परन्तु एक व्यक्ति पर श्रद्धा रखने वाले करोडों हो सकते हैं ; प्रेम में अपना ही अनुभव काम करता है, परन्तु श्रद्धा में दूसरे के अनुभव की भी आवश्यकता पड़ती है । अतः श्रद्धा के भावों में सामाजिकता के भावों का उदय है । प्रेम में प्रेमी प्रिय पर अपना अधिकार चाहता है, वह चाहता है कि जिस वस्तु से मैं प्रेम करता हूँ उससे प्रेम करने वाला संसार में दूसरा न हो । परन्तु श्रद्धा में इस प्रकार का कोई अधिकार नहीं होता । श्रद्धा रखने वाला तो यह चाहता है कि जिस वस्तु से वह श्रद्धा रखता है, उससे श्रद्धा रखने वाले बहुत से हों । प्रेम में प्रिय का चिन्तन हम आँखें बन्द करके करना चाहते हैं, परन्तु श्रद्धेय का चिन्तन आँखे खोलकर करते हैं । प्रेम में किसी मध्यस्थ की आवश्यकता नहीं होती । प्रेमी और प्रिय दो ही होते हैं, परन्तु श्रद्धा में मध्यस्थ की परमावश्यकता है । बिना मध्यस्थ के श्रद्धा भावों का जागरण नहीं हो

सकता । यही मध्यस्थ के गुण हैं जिनके कारण श्रद्धा उत्पन्न होती है ।

किसी कारण से एक व्यक्ति में प्रेम भावों का जागरण हुआ - इसका हमें पता नहीं चल पाता । प्रेम की उत्पत्ति के बहुत से कारण हो सकते हैं । कभी कभी दो व्यक्ति के साथ-साथ रहने से उनमें प्रेम-भाव जागृत हो जाता है, परन्तु श्रद्धा का कारण निश्चित रहता है, क्योंकि श्रद्धा जिन कारण से उत्पन्न होती है, उन्हें संसार चाहता है । रूप की भावना का संबंध व्यक्तिगत रूचि पर ही होता है। श्रद्धा एक सामाजिक भाव है । हम अपनी श्रद्धा के बदले श्रद्धेय से कुछ नहीं चाहते, क्योंकि जिन कर्मों से हममें श्रद्धा भाव जागृत होते हैं, वे समाज के हैं ।

दोनों की तुलना से हम परिणाम पर पहुँचते हैं कि श्रद्धा का स्थान प्रेम की तुलना से बहुत ऊँचा है ।

3.2.8. श्रद्धा और भक्ति के अन्तर का स्पष्टीकरण

भक्ति, श्रद्धा और प्रेम का योग है । जब पूज्यजन की वृद्धि के साथ श्रद्धेय के सामीप्य लाभ की प्रवृत्ति होती है, तंब हृदय में भक्ति का संचार होता है । श्रद्धालू हृदय में श्रद्धेय के दर्शन, श्रवण, कीर्तन, ध्यान, प्राप्ति का आनन्द अनुभवित हो उठता है । ऐसी स्थिति में श्रद्धेय का उठना, बैठना, चलना, क्रोध आदि सभी कुछ अच्छा लगने लगता है । भक्ति में हम भक्ति-भजन से विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हैं ।

श्रद्धा और भक्ति में अन्तर

1. श्रद्धालु जहाँ महत्व का विकास करता है, वहाँ भक्त महत्व की ओर अग्रसर होता है । श्रद्धालु जहाँ अपने जीवन क्रम को ज्यों का त्यों छोड़ देता है, वहाँ भक्त अपने जीवन में काट-छाँट कर भक्ति का अधिकारी होने का प्रयत्न करता है । श्रद्धा की अपेक्षा भक्ति समाज के लिए कल्याणकारी है । यदि गुरू गोविन्द सिंह को केवल दण्डवत्

करने वाले श्रद्धालु ही मिले होते और अपना जीवन अर्पण करने वाले भक्त न मिले होते तो वे अन्याय-दमन करने में कभी भी समर्थ न हो पाते । इस प्रकार भक्ति में लोक हितकारिणी शक्ति छिपी होती है ।

2. भक्ति में किसी ऐसे सान्निध्य की प्रवृत्ति होती है, जिसके कार्यों के अनुरूप हम अपने को ढालने का प्रयत्न करते हैं । भक्ति में दूसरे के महत्व के साथ अपनी दीनता की भावना प्रमुख रहती है । भक्त आराध्य के साक्षात्कार के लिए श्रद्धा में प्रेम भी मिश्रण कर लेता है । इस प्रकार श्रमसाध्य पथ भी मनोहर बन जाता है ।

3. भक्ति में ऐसे लोग भी हमारे सामने आ जाते हैं जिनके प्रति हमारी कुछ भी श्रद्धा नहीं होती । इसके द्वारा हमारे इष्ट के स्वरूप का पूर्ण विकास होता है । रावण के प्रति हमारी कुछ श्रद्धा नहीं है, किन्तु वह हमारे इष्ट देव राम के स्वरूप के पूर्ण विकास में सहायक होता है । इस प्रकार भक्ति के क्षेत्र में यदि राम हमारे काम के हैं तो रावण भी । राम के ही हाथों मारे जाने से रावण का भी जीवन सार्थक हो गया ।

4. धर्म की स्थापना और पाप का विनाश करने के लिए हमारे यहाँ अवतार की प्रतिष्ठ की गई है । अवतार, उन उदात्त और महान् भावनाओं का चरमोत्कर्ष पर पहुँचा हुआ समन्वित रूप है, जिसका क्षुद्र अंश चेतन प्राणियों में मिलता है ।

5. व्यवहार पथ में आश्रय-प्राप्ति के लिए मनुष्य ईश्वर की स्वानरूप भावना करता है ।

6. भक्ति का स्थान मानव-हृदय है । श्रद्धा और प्रेम के संयोग से उनका प्रादुर्भाव होता है । राम, कृष्ण आदि अवतारों में परमात्मा की विशेष कला देखकर हिन्दू के हृदय की सारी शुभ और आनन्दमयी वृत्तियाँ उनकी ओर दौड़ पड़ती हैं, उनको प्रेम, श्रद्धा आदि का बड़ा

भारी अवलम्ब मिला जाता है । भक्त उनका समीप्य पाने के लिए उनकी लीलाओं का चिन्तन और वर्णन करता है, रामलीला, कृष्णलीला आदि समीप्य सिद्धि ही के विधान हैं ।

हमारे अवतार जो भक्ति के आश्रय हैं, वे कर्म-क्षेत्र में जीवन का सौन्दर्य बिखेर देते हैं । कर्म-सौन्दर्य के योग से उनके स्वरूप में इतना माधुर्य आ जाता है कि हमारा हृदय स्वयं ही उनकी ओर खिंच जाता है ।

7. हमारे यहाँ क्षात्र-धर्म सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाला है । क्षात्र-धर्म की इसी व्यापकता के कारण हमारे मुख्य अवतार राम और कृष्ण क्षत्रिय हैं । क्षात्र-धर्म एकांतिक न होकर लोक-रक्षा करने वाला है । क्षात्र-धर्म में शक्ति के साथ क्षमा, वैभव के साथ विनय, पराक्रम के साथ माधुर्य, तेज के साथ कोमलता, सुख-भोग के साथ पर-दुखकातरता, प्रताप के साथ कठिन धर्म-पथ का अवलम्बन और धर्म-सौन्दर्य का सुन्दर रूप मिलता है ।

क्षात्र-धर्म में अवतार का सुन्दर स्वरूप निखरा है जो भक्ति का आधार है । क्षात्र-धर्म के पालन की आवश्यकता संसार में सदैव बनी रहेगी । दुष्टों और अत्याचारियों से समाज की रक्षा क्षात्र-धर्म ही कर सकता है ।

3.3. उत्साह

प्रस्तुत निबन्ध में ''उत्साह'' का शुक्ल जी ने व्यावहारिक विवेचन किया है । प्रयत्न या चेष्टा उत्साह का अनिवार्य लक्षण है । प्रयत्न मिश्रित आनन्द का नाम ही उत्साह है ।

3.3.1. भय और उत्साह

भय और उत्साह दो पूर्णतः विरोधी वस्तुएँ हैं । भय से मनुष्य कठिन परिस्थितियों के उपस्थित हो जाने पर दुःखी होता है । इसके विपरीत उत्साह में मनुष्य कठिन स्थिति के उत्पन्न हो जाने पर भय

की तरह अधीर ओकर दुःखी नहीं होता, बल्कि आनन्द और उमंग से भर जाता है । उत्साह में उसमें कार्य करने की तत्परता की भावना का उदय होता है । उत्साह में वह भय की तरह भागने का प्रयत्न नहीं करता, बल्कि परिस्थितियों से लड़ने के लिए हर्षपूर्वक प्रयत्न करता है । उत्साह में मनुष्य कष्ट व हानि की चिन्ता नहीं करता । वह तो दृढ़तापूर्वक कार्य करने से संलग्न हो जाता है तथा उत्पन्न आनन्द से हर्षित होता है । जिस व्यक्ति को कार्य करने का अनुभव होता है वह ही सच्चा उत्साही कहलाता है ।

3.3.2. उत्साह के भेद

कष्ट या हानि के अनुसार ही उत्साह के भी भेद हैं । इस दृष्टि से उत्साह के तीन भेद किये गये हैं -

1. युद्धवीर 2. दानवीर 3. दयावीर ।

प्रतिपक्षी की चोट को आनन्द मिश्रित साहस के साथ सहना तथा उमंग में भर कर प्रयत्न करना ही युद्धवीरता है । जब तक कष्ट सहने में आनन्द तथा उमंग नहीं होगा तब तक उसे उत्साह नहीं कहा जा सकता । आनन्द और उमंग रहित होकर भयंकर कष्ट को सहना साहस कहलाता है, उत्साह नहीं । उदाहरण के लिए यदि एक व्यक्ति बिना बेहोश हुए भारी आपरेशन कराने को तैयार रहता है तो यह उसका साहस है । इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति कठिन से कठिन प्रहार सहन करता है और अपने स्थान से नहीं हटता तो यह उसकी वीरता एवं साहस है । इसकी गणना उत्साह के अन्तर्गत तभी हो सकेगी जब वह साहसी अथवा वीर व्यक्ति उस कार्य को आनन्द एवं उमंग के साथ करे ।

यदि कोई व्यक्ति अपनी महान सम्पत्ति में से कुछ धन दान दे दे, तो वह दानवीर नहीं कहलायेगा क्योंकि उसे अर्थसंकट का सामना नहीं करना पड़ेगा । दानवीरता तभी कही जायेगी जब दानी व्यक्ति दान करने के उपरान्त अर्थ के अभाव को आनन्द के साथ सहन करेगा तभी उत्साही कहा जायेगा । इसके अतिरिक्त संसार में और

भी ऐसे विकट कार्य होते हैं जिनमें घोर शारीरिक कष्ट सहना पड़ता है तथा प्राणों की हानि की भी सम्भावना रहती है । उदाहरण के लिए पर्वत की चोटियों पर चढ़ना, ध्रुव प्रदेश का सफर करना ऐसे ही कार्य हैं । इस प्रकार के कार्यों में जिस आनन्दपूर्ण तत्परता के साथ लोग प्रवृत्त होते हैं, वह भी उत्साही हैं ।

3.3.3. सच्चे उत्साही

मनुष्य मानसिक कष्ट, मान-अपमान, भले-बुरे के भय से उन कार्यों को नहीं कर पाता जो उसकी दृष्टि में समाज तथा जन-साधारण को लाभदायक हैं, इसके विपरीत अपमान, भले-बुरे की तनिक भी चिन्ता न करके हर प्रचलित प्रथा के विरूद्ध तत्परता एवं प्रसन्नता से कार्य करते हैं वे ही सच्चे उत्साही हैं । जो मनुष्य किसी कार्य के शुभ-अशुभ के परिणामों को ध्यान में रखकर केवल यश प्राप्ति के लिए हर्षपूर्वक कार्य करता है वह उत्साही नहीं बल्कि लोभी है । कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार समाज में सच्ची भावना वाले उत्साही मिलते हैं उसी प्रकार तुच्छ स्वार्थी भावना के कार्य करनेवाले भी मिलते हैं । जो एसे कार्य में बाधा उत्पन्न करते हैं । शुभ कार्यों के लिए हुआ उत्साह प्रशंसनीय तथा अशुभ कार्यों के लिए किया गया निन्दनीय है । किन्तु फिर भी बहुत से व्यक्ति डकैतों एवं अन्य दुष्ट कार्यों को करनेवालों की प्रशंसा करते हैं ।

3.3.4. उत्साह में साहस और आनन्द

उत्साह में साहस का पूरा योग रहता है । जब तक आनन्द का लगाव किसी क्रिया, व्यापार या किसी भावना के साथ नहीं रहता तब तक उसे उत्साह नहीं कह सकते । उत्साह के आनन्द में प्रयत्न की स्थिति और कर्म-संकल्प का सदैव योग रहता है ।

प्रत्येक कार्य में थोड़ा या बहुत का योग रहता है । उत्साह की उमंग जिस प्रकार हाथ-पैर चलवाती है उसी प्रकार बुद्धि से काम करवाती है । अतः अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसे उत्साहवाले व्यक्ति

को कर्मवीर कहना चाहिए अथवा बुद्धि-वीर । किन्तु देखने में यही आता है कि उद्योग की तत्परता में ही उत्साह का जन्म होता है । अतः ऐसे वीर को कर्मवीर ही कहा जाना चाहिए । यदि कोई साधारण विद्यार्थि किसी विद्वान पण्डित से आनन्द, उमंग और साहस के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए तत्पर होता है तो यह भी उत्साह होगा और ऐसे वीर को बुद्धि-वीर कहेंगे । कुछ लोग कोरी बातें बनाते हैं उन्हें वाग्वीर कहेंगे ।

उत्साह वास्तव में एक यौगिक भाव है । उसमें साहस व आनन्द का भाव रहता है । अतः उत्साह में ध्यान अन्य रसों की भांति आलम्बन पर न रहकर कठिन कर्मवृत्ति पर ही रहता है । उत्साह में व्यक्ति का ध्यान सम्पूर्ण कर्म-श्रृंखला पर होता हुआ फल तक रहता है । ऐसा नहीं होता कि उनका ध्यान केवल कर्म पर ही रहे अथवा केवल फल पर ही रहे । कर्म का ध्यान उसे कार्य करने की तत्परता और प्रेरणा तथा फल का ध्यान उमंग और आनन्द प्रदान करना है । व्यक्ति या वस्तु का उत्साह से सीधा सम्बन्ध नहीं होता । कर्म-भावना की उत्साह को जन्म देता है । कर्म के अनुष्ठान में जो आनन्द प्राप्त होता है, उसका विधान हमें तीन रूपों में प्राप्त होता है - एक तो कर्म की भावना से उत्पन्न आनन्द, दूसरे फल की भावना से और तीसरे विषयान्तर से ।

1. कर्म भावना से उत्पन्न उत्साह श्रेष्ठ माना जाता है । सच्चे वीर के हृदय में इसी भावना से आनन्द होता है । यह उत्साह सदैव एक ही प्रकार से रहता है । इसमें किसी प्रकार के लोभ की भावना नहीं रहती । इसी कारण कर्म-भावना प्रधान उत्साह ही सच्चा है ।

2. फल की इच्छा मात्र हृदय में रख जो प्रयत्न किया जायेगा वह आनन्द एवं तत्परता से रहित होने के कारण निर्जीव-सा होगा । जहाँ फल प्राप्ति की भावना से आनन्द मिलता है, वहाँ लोभ ही निहित रहता है । ऐसे उत्साह को सच्चा उत्साह नहीं कह सकते क्योंकि फल प्राप्ति होने की आशा कम होने पर उम्रग मिटने लगती है तथा शिथिलता का प्रादुर्भाव होने लगता है ।

3. विषयान्तर से प्राप्त आनन्द - कभी-कभी हमारे आनन्द का मूल विषय तो कुछ और रहता है किन्तु उस आनन्द के कारण हम प्रत्येक कार्य को जो भी हमारे सामने आता है, उत्साहपूर्वक करते हैं । इस प्रकार एक विषय के लिए उत्पन्न उत्साह से हम दूसरे विषयों में भी उत्साहित हो जाते हैं ।

उत्साह कर्म और फल दोनों की मिली-जुली अनुभूति है । दोनों के मिश्रण से ही उत्साह की उत्पत्ति होती है । यदि फल-प्राप्ति की तनिक भी आशा न होगी तो कर्म में मन नहीं लगेगा और कार्य में शिथिलता आ जायेगी । इसके विपरीत यदि फल-प्राप्ति की तनिक भी आशा होगी तो कर्म करने में प्रसन्नता, आनन्द तथा उमंग बना रहेगा तथा कार्य करने में एक प्रकार की तल्लीनता आ जायेगी । केवल फल मात्र की आसक्ति से जो कार्य किया जयेगा उसमें आनन्द की तनिक भी मात्रा नहीं होगी । ऐसे कार्य करने में यदि यह निश्चय हो जाय कि फल-प्राप्ति अवश्य होगी तो उत्साह भी चौगुना हो जायेगा । किन्तु फल-प्राप्ति के अनिशिचत हो जाने से उत्साह भी मन्द पड जायेगा, अतः आनंद के साथ कर्म करने में फल पर ध्यान रखना तो आवश्यक है किन्तु केवल फल को ही सर्वस्व मानना ठीक नहीं क्योंकि ऐसा करने से कर्म करने में आनन्द नहीं आयेगा ।

जो मनुष्य केवल फल की आसक्ति से ही कार्य करेगा वह चाहेगा कि मुझे या तो कार्य करना ही न पड़े, यदि करना भी पड़े तो वह बहुत कम हो और उस फल-प्राप्ति अधिकतम हो । इस प्रकार के फल चाहने से कर्म में मन नहीं लगता और शरीर में शिथिलता आ जाती है और फल भी नहीं मिलता । यदि कोई व्यक्ति कर्म तो करे नहीं और केवल फल की आशा करे तो यह कैसे सम्भव हो सकता है । उदाहरणार्थ यदि कोई व्यक्ति पण्डित को चार आने रोज देने तथा पूजा पाठ कराने मात्र से धन में वृद्धि करना चाहता है तो उसका ऐसा सोचना व्यर्थ ही है । इसलिए श्रीकृष्ण भगवान ने कहा - ''फल में आसक्ति न रखते हुए केवल कर्म करते जाओ ।''

वह मनुष्य जो आनन्द-पूर्वक कर्म करता हुआ फल तक जाता है सच्चा उत्साही है । उसको कर्म करते समय निरन्तर प्रसन्नता रहती है । दूसरे यदि उसे फल न प्राप्त हो तो उसे पश्चात्ताप नहीं होता है । क्योंकि उसे कर्म करने में उत्साह प्राप्त होता रहता है । इसके विपरीत फल में आसक्ति रखनेवाले को फल न प्राप्त होने पर अधिक क्लेश होने लगता है । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि आनन्द इतना अधिक होता है कि उससे अन्य कर्मों को भी उत्साह प्रदान होता है । उदाहरण के लिए यदि किसी को कहीं से लाखों रूपयों का लाभ हो जाता है तो वह लाभ की प्रबलता के कारण अन्य कर्मों को भी बड़े उत्साह से करता है ।

अतः निष्कर्ष यह है कि जो लोग कार्य करने में आनन्द की अनुभूति करते हैं उन्हीं को कर्मण्य कहा जाता है । इन व्यक्तियों को कार्य करने में बहुत सुख एवं आनन्द की प्राप्ति होती है । अतः यह स्पष्ट है कि कर्म करके कष्ट सहते हुए भी आनन्द का संचार ही उत्साह है ।

3.3.5. निबन्ध की विशेषताएँ

शुक्ल जी का प्रस्तुत निबन्ध उत्साह की बृहद् व्याख्या करता है । इसमें उत्साह के सभी पक्षों का सूक्ष्म विवेचन हुआ है । लेखक की निबन्ध शैली उसके व्यक्तित्व की छाप से पूर्ण है । लेखक पहले अपने विचार को व्याख्या रूप में कह देते हैं फिर 'सारांश यह है' आदि कहकर समस्त व्याख्या को एक सूत्र में कह देते हैं । स्वार्थी सुधारकों तथा वाग्वीरों पर व्यंग्य के छींटे डाले गये हैं । भाषा में जहाँ संस्कृत-निष्ठ सामाजिक शब्द हैं, वहाँ मुलाकात, मिजाज आदि जैसे उर्दू शब्दों का प्रयोग भी है । निबन्ध की शैली बड़ी प्रभावशाली है ।

3.3.6. उत्साह की व्याख्या

मनुष्य जीवन के दो पहलू हैं - दुःख और सुख । सुख अथवा आनन्द के अन्तर्गत हम उत्साह नामक भाव को लेते हैं । भय हमको केसी विशेष दशा में दुखी बनाता है । अतः इससे हम दूर होना

चाहते हैं । परन्तु उत्साह से हमको सुख प्राप्ति होती है तथा हम उमंग से भरकर सामने उपस्थित कार्य को करने में तल्लीन हो जाते हैं । इस प्रकार स्पष्ट है कि भविष्य की कठिन परिस्थितियों के प्रति दृढ़ता का भाव एवं कष्ट अथवा हानि को सहन करने की शक्ति के साथ आनन्दयुक्त भाव से कर्म करने में तल्लीन होना ही उत्साह कहलाता है । अतः उत्साह के लिए दृढ़ता, सहनशीलता एवं साहस के गुणों की परिस्थिति परम आवश्यक है । कभी-कभी किसी को कष्ट पहुँचाते समय भी हमको आनन्द होता है, तब उसको उत्साह ही कहते हैं । उत्साह तीन प्रकार का बतलाया गया है -

1. युद्ध का उत्साह
2. दया का उत्साह
3. दान का उत्साह

युद्ध के उत्साह में मनुष्य जीवन और मृत्यु के अन्तर को भूल जाता है और साहस-युक्त भावों से कार्य करने में तत्पर हो जाता है । जब उसको कार्य करते समय कष्ट को सहते हुए आनन्द की प्राप्ति होती हे तो उत्साह ही कहलाता है । उत्साह भाव तभी कहा जा सकता है जब हृदय में साहस, धैर्य, उत्कण्ठा और आनन्द के भाव हों । केवल पीड़ा सहना और साहस का परिचय देना उत्साह नहीं कहलाता । उत्साह के लिए व्यक्ति में आनन्दपूर्ण उत्कण्ठा का होना भी आवश्यक है । उदाहरण के लिए बिना बेहोश हुए आपरेशन कराना साहस कहा जा सकता है, उत्साह नहीं । इसी तरह निर्विरोध रूप से किसी की बातों को सहन कर लेना धीरता है, उत्साह नहीं । अतः उत्साह के अन्दर धैर्य और साहस दोनों का समावेश रहता है ।

अब दानवीर के लक्षणों को देखना चाहिए जो व्यक्ति धनाभाव में कष्ट सहकर भी दूसरों को दान देता है वह दानवीर है । दान करते समय उसका मन प्रसन्न एवं उकण्ठापूर्ण होना चाहिए । क्योंकि शुक्ल जी ने बताया है कि उत्साह एक यौगिक भाव है, जिसमें साहस और आनन्द का येग रहता है । समाज की कुरीतियों का विरोध

करना तथा समाज की ओर से होने वाली निन्दा एवं अपमान को सहन करने के लिए तैयार रहना आदि कार्य भी इसी उत्साह के अन्तर्गत आते हैं । कुछ लोग नाम कमाने के लिए ही उत्साह दिखाते हैं तथा अच्छी प्रथाओं का भी बड़े उत्साह के साथ विरोध करते हैं । ऐसे लोगों का उत्साह, उत्साह न होकर लोभ मात्र है । साहित्य में भी इसी प्रकार के नाम कमाने के इच्छुक होते हैं । ऐसे लोग समाज में सुधार करने के बजाय गन्दगी ही फैलाते हैं । उत्साह के आवेश में अच्छे कार्य करनेवाला ही प्रशंसा का पात्र है एवं बुरे कर्मों में उत्साह दिखानेवाला निन्दा का पात्र है ।

लेखक कहते हैं कि उत्साह में केवल उत्कण्ठा प्रकट करना ही पर्याप्त नहीं, बल्कि तदनुरूप क्रिया करना भी आवश्यक है । उदाहरण के लिए किसी मित्र के आने पर केवल उत्कण्ठा ही प्रकट करना पर्याप्त नहीं है अपितु गले से मिलना भी आवश्यक है । बुद्धि से उत्साह भाव की वृद्धि प्राप्त होती है । बुद्धि के क्षेत्र में भी वाद-विवाद आदि में साहस और आनन्दयुक्त उत्कण्ठा दिशानेवाले बुद्धि वीर तथा वाग्वीर कहलाते हैं । उदाहरण के लिए शास्त्रार्थ के लिए उत्कण्ठित होकर आनेवाला विद्वान भी उत्साही कहलाता है ।

उत्साही का भाव कर्म से लेकर फल तक रहता है । उदाहरणार्थ किसी को जीतने के लिए युद्धवीर का ध्यान अपने शत्रु को जीतने की क्रिया तथा उससे प्राप्त फल तक रहता है । शुक्ल जी ने कहा है -

''किसी कर्म के सम्बन्ध में जहाँ आनन्दपूर्ण तत्परता दिखाई पड़े हम उसे उत्साह कह देते हैं । कर्म के अनुष्ठान में जो आनन्द आता है उसका विधान तीन रूपों में दिखाई पड़ता है ।''

लेखक के इस कथन से स्पष्ट है कि उत्साह को तीन रूपों में बाँटना है । वे तीन रूप हैं -

1. कर्म-भावना से उत्पन्न उत्साह ।
2. फल-भावना से उत्पन्न उत्साह ।
3. विषयान्तर से उत्पन्न उत्साह ।

कर्म भावना से प्रेरित उत्साह सर्वश्रेष्ठ है । शौर्य और साहस की उत्पत्ति कर्म की प्रवृत्ति से ही होनी है । उत्कृष्ट उत्साह में कर्म-भावना की प्रधानता रहती है एवं फल की इच्छा गौण रहती है । किन्तु जिस उत्साह में फल की भावना प्रधान रहती है, वह उत्कृष्ट उत्साह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें फल की प्राप्ति न हो तो क्लेश बढ़ जाता है । ऐसा उत्साह लोभ-युक्त माना जाता है । अतः वास्तव में उत्साह वही है जिसमें फल और कर्म दोनों की मिली-जुली अवस्था से आनन्द प्राप्त होता है ।

विषयान्तर से प्राप्त आनन्द का मूल विषय तो कुछ और ही रहता है किन्तु उस आनन्द के कारण एक ऐसी तत्परता उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण हम अनेक कार्यों को सहर्ष करने लगते हैं । हमारे कार्य करने की यही तत्परता एवं प्रसन्नता उत्साह कहलाती है । "इसी प्रकार किसी उत्तम फल या सुख प्राप्ति की आशा या निश्चय से उत्पन्न आनन्द फलोन्मुख प्रयत्नों के अतिरिक्त और दूसरे व्यापारों के साथ संलग्न होकर उत्साह के रूप में दिखाई पड़ता है ।"

शुक्ल जी के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि उत्साही कर्म और फल के प्रति उत्साह रखता है, तभी उसकी भावना विशेष शक्तिशालिनी होती है । जब फल की कामना अधिक होती है और कर्म की कम तो उत्साह का हनन हो जाता है । गीता में श्री कृष्ण ने कहा है - कर्म में आसक्ति रखो, फल में नहीं । कर्म-वीर को कर्म करना पड़ता है । उसको कर्म करने में उतना आनन्द प्राप्त होता है जितना कि किसी अन्य व्यक्ति को फल प्राप्त होने में होता है । कर्मवीर को यदि फल प्राप्त न भी हो तो भी उसे कोई चिन्ता नहीं क्योंकि उसे कर्म करने में सदा संतोष और शान्ति मिलती है ।

एक कर्म का फल प्रकट हो जाने पर आगे के कर्म को करने में और अधिक उत्साह फूट पडता है तथा अन्य कार्य भी उत्साह पूर्वक होने लगते हैं । अतः लेखक का मत है कि उपर्युक्त तीनों प्रकार के उत्साहों में से कर्म प्रधान को ही सर्वश्रेष्ठ उत्साह कहा जा सकता है ।

3.3.7. मनोभावों का सूक्ष्म भेद और संबन्ध

भय और उत्साह दो विरोधी भाव हैं । दुःख के वर्ग में जो स्थान भय का है, आनन्द के वर्ग में वही स्थान उत्साह का है । साहस की अवस्था में मनुष्य किसी भयंकर या कठिन स्थिति के उपस्थित होने पर दुःखी होता है तथा उस परिस्थिति से अपने को दूर रखने का भरसक प्रयत्न करता है, जबकि उत्साह में ठीक इसके विपरीत होता है । उत्साह में मनुष्य आपत्ति या कठिनाई को देखकर न तो वह दुखी होता है और न उससे भागने का प्रयत्न ही करता है, अपितु वह साहस के साथ आनन्द और उमंग में तल्लीन होकर कठिनाई को दूर करने का प्रयास करता है ।

कर्म के क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ वह व्यक्ति प्रत्येक क्षण एक अलौकिक आनन्द का अनुभव करता हुआ निरन्तर कर्म-पथ पर अग्रसर होता रहता है । इसके विपरीत भयभीत व्यक्ति कर्म में प्राप्त इस आनन्द का तनिक भी अनुभव नहीं करता है । इसका एक मात्र कारण यह है कि ऐसा व्यक्ति फलासक्त रहता है, कर्मासक्त नहीं । इसी कारण यह सिद्ध हो जाता है कि भय मनुष्य के हृदय का वह अभाव है जो दुःख के अन्तर्गत जन्म लेता है और मनुष्य के हृदय के दुःख की और वृद्धि करता है । इसमें फँसा रहने पर मनुष्य को कर्म करने में आनन्द नहीं आता है । जब कि उत्साह मनुष्य के मन का वह भाव है जो उसके कर्म को प्राप्त कराने में सहायक होता है तथा उसके हृदय में साहसपूर्ण आनन्द व उमंग को जन्म देता है ।

किसी कष्टदायक कार्य करने के लिए तैयार हो जाना साहस

कहलाता है । उदाहरण के लिए-बिना क्लोरोफार्म सूँघे आपरेशन कराने को तैयार हो जाना साहस ही कहा जायेगा । साहस में आनन्द का अभाव होता है जबकि उत्साह में साहस और आनन्द दोनों मिले रहते हैं । अतः स्पष्ट है कि यदि हम उत्साह से आनन्द को वंचित कर दें तो वह साहस ही हो जायेगा ।

धीरता में मनुष्य किसी भयंकर प्रहार को सहता हुआ भी अपने स्थान पर अचल रहता है । धीरता में भी आनन्द का अभाव रहता है । उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति हमारे मुँह पर घोर निन्दा करे और हम कुछ न कहें तो यह हमारी धीरता ही कही जायगी ।

साहस, धीरता एवं उत्साह में बहुत ही सूक्ष्म अन्तर रहता है । साहस और धीरता में आनन्द का अभाव रहता है । साहसी व धीर मनुष्य कष्टों से घबरा कर कराह उठता है तथा दुःख की अनुभूति का अनुभव करता है, जबकि उत्साह में ऐसा नहीं होता है । उसमें कर्म करने के साथ-साथ आनन्द एवं साहस का भाव भी उत्पन्न होता रहता है ।

कष्टप्रद कार्यों का आनन्द एवं उत्कण्ठापूर्ण करना ही उत्साह कहलाता है । साहित्य-विवेचकों ने इस दृष्टि से ही बताया है कि युद्धवीर, दयावीर तथा दानवीर तीनों में उत्साह का भाव निहित रहता है । अर्थात् तीनों को कष्टपूर्ण कर्म करने में आनन्द व उमंग की प्राप्ति होती है । इन तीनों में आनन्द का भाव तो समान रहता है किन्तु तीनों के कष्टों में अंतर रहता है । युद्धवीर व्यक्ति शारीरिक कष्टों को सहन करता हुआ आनन्द के साथ कार्य करता है । दानवीर आर्थिकं संकट सहते हुए भी दान के कार्य में संलग्न रहता है तथा दयावीर आर्थिक और शारीरिक कष्ट सहते हुए भी अपने आश्रय आलम्बन पर दया करने को उत्साहित रहता है ।

अतः हम देखते हैं कि इन तीनों में परस्पर घनिष्ठ संबन्ध है । तीनों में वीरता का भाव अपनी चरम-सीमा पर होता है । वैसे तो साधारण दृष्टि से इन तीनों में कोई अन्तर नहीं होता क्योंकि तीनों

अपने-अपने कार्यों को आनन्दपूर्वक कष्ट सहते हुए करते हैं । किन्तु इन तीनों में प्रधानता युद्धवीर की ही है । क्योंकि युद्धवीर का साहस और प्रयत्न आनन्द की चरम-सीमा पर पहुँचता है और यह आनन्द ही उत्साह का जीवन है ।

3.3.8. कर्म और फल से उत्साही व्यक्ति का संबंध

उत्साही व्यक्ति का संबंन्ध कर्म और फल दोनों से रहता है । कर्म तो वह मार्ग है जिस पर उत्साही को प्रसन्नता एवं साहसपूर्वक चलना होता है तथा फल वह स्थान है जहाँ तक उसे चलना है । कभी-कभी किसी व्यक्ति अथवा वस्तु की प्राप्ति के लिए भी उत्साह की आवश्यकता होती है। इसमें भी कर्म करना होता है । इस कर्म के द्वारा अमुक व्यक्ति या वस्तु को प्रभावित करने का प्रयत्न किया जाता है । अब इस बात पर विचार करना है कि उत्साही व्यक्ति का ध्यान कर्म पर होता है अथवा फल पर अथवा वस्तु या व्यक्ति पर ।

लेखक का मत है कि वास्तविक उत्साही का ध्यान आरम्भ से अन्त तक सम्पूर्ण कर्म श्रृंखला से होता हुआ सफलता रूपी फल पर समाप्त होता है । इसी फल के कारण आनन्द उत्पन्न होता है । इसी आनन्द से कर्त्ता या उत्साही का मन कर्म को करने के लिए तत्पर हो उठता है । उत्साही का सीधा सम्बन्ध कर्म से होता है, फल से नहीं । उत्साही के समक्ष कर्म रहता है जिसे वह फल-प्राप्ति के लिए करता है । अतः स्पष्ट है कि उत्साही का ध्यान कर्म पर ही केन्द्रित रहता है । यदि वह फल की ओर आसक्त हो जायेगा तो कार्य करने में शिथिलता आ जायेगी ।

इसी प्रकार वस्तु या व्यक्ति को प्रभावित करने के लिए उत्साह उत्पन्न होता है उसी की ओर कर्म अग्रसर होता है । उदाहरण के लिए जब हनुमान जी समुद्र पार करने चले तो उनके उत्साह का कारण समुद्र को लाँघने का विकट कर्म था न कि समुद्र । अतः इससे स्पष्ट है कि किसी व्यक्ति या वस्तु के साथ उत्साह की उत्पत्ति का सीधा संबंध नहीं होता, बल्कि कर्म-भावना से ही उत्साह की

उत्पत्ति होती है । अतः इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उत्साह में व्यक्ति का ध्यान कर्म के विस्तार पर होता है चूँकि कर्म से ही उसका सीधा सम्बन्ध रहता है न कि फल से ।

शुक्ल जी कहते हैं कि वैसे तो आनन्द की उत्पत्ति दो प्रकार की होती है -

1. कर्म भावना से
2. फल भावना से

किन्तु वास्तविक उत्साही वही है जिसे कर्म कि आसक्ति से ही आनन्द की प्राप्ति हो अर्थात् जो आनन्द एवं उत्कण्ठा-पूर्वक कार्य करने में तल्लीन रहते हैं वे कहते हैं कि सच्चे युद्धवीर को युद्ध-स्थल में प्रवेश करते ही आनन्द की प्राप्ति होने लगती है । ऐसे व्यक्ति कर्म और फल में कोई अन्तर नहीं समझते । वे उसी तत्परता एवं स्फूर्ति से कर्म की ओर अग्रसर होते हैं जितनी स्फूर्ति से साधारण मनुष्य फल की ओर उन्मुख होता है । ऐसे उत्साहियों को अपने किए हुए कर्म के फल की प्राप्ति न होने पर भी दुःख नहीं होता क्योंकि उसे कर्म करते समय ही आनन्द एवं संतोष की अलौकिक मात्रा प्राप्त हो चुकी है । यदि भाग्यवश ऐसे व्यक्तियों को सफलता भी मिल जाती है तो आनन्द द्विगुणित हो जाता है । इसके विपरीत यदि साधारण मनुष्य को फल की प्राप्ति न हो तो उसमें क्लेश मात्र बढ़ जाता है और धैर्यहीन हो उठता है ।

फल की भावना से उत्पन्न आनन्द भी व्यक्ति को कर्म करने में तत्परता प्रदान करता है । किन्तु यदि कर्म करते समय बीच में ही फल प्राप्त होने की आशा कम हो जाती है तो कर्म करने में शिथिलता आ जाती है । फल की आसक्ति से मनुष्य के हृदय में उतावली उत्पन्न हो जाती है । वह यही सोचता है कि शीघ्र ही अधिक से अधिक फल प्राप्त हो । यदि ऐसे फल की आसक्ति रखने वाले व्यक्ति को दैवयोग से फल-प्राप्ति में सफलता न मिले, तो वह हताश हो जाता है, तथा उसका निराशा भाव किसी कार्य करने में मन नहीं लगने देता ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर लेखक का मत है कि फल में आसक्ति रखकर किया जाने वाला कार्य शुष्क और नीरस होता है । वह उत्साह की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता क्योंकि वह तो एक प्रकार का लोभ ही है । कर्म करनेवाले व्यक्ति के सामने कर्म उपस्थित रहता है तथा फल दूर रहता है । अतः उसको कर्म में ही आसक्ति रखना चाहिए फल में नहीं । क्योंकि ठीक आसक्ति उसी वस्तु में लग जाती है, जो समक्ष प्रस्तुत हो । सच्चे उत्साही व्यक्ति की दृष्टि में कर्म ही आनन्द का भण्डार है । लेखक ने बताया है कि ''जिस आनन्द से कर्म की उत्तेजना होती है तथा जो आनन्द कर्म करते समय बराबर चलता रहता है वही उत्साह कहलाता है ।'' स्पष्ट है कि यह आनन्द कर्म की आसक्ति से उत्पन्न हुआ, फल की आसक्ति से नहीं । अतः हम कह सकते हैं कि कर्म में उत्साह-आनन्द एवं साहस की प्राप्ति के लिए कर्म में आसक्ति करना ही श्रेष्ठ है ।

3.3.9. उत्साह की परिभाषा

मनुष्य मनोविकारों का पुतला है । समय-समय पर उसके मन में कितनी ही भावनायें उत्पन्न होती रहती हैं । इन मनोविकारों या भावनाओं के अनुसार ही मनुष्य काम करता रहता है । इन भावनाओं में दो मूल भावना या मनोविकार हैं - सुख और दुःख । उत्साह का संबन्ध सुख के मूल भाव से है ।

उत्साह कर्म-प्रधान है । शुक्लजी ने भय और उत्साह की तुलना की है । इस तुलना का आधार कर्म की प्रधानता में है । भय उत्पन्न होने पर हम भी निवारण के लिए प्रयत्नशील होते हैं, उसी प्रकार उत्साहित होकर भी हम प्रयत्नशील होते हैं । पर कभी-कभी हम भय से इतने आतंकित हो जाते हैं कि निवारण के लिए प्रयत्न का साहस भी हममें बाकी नहीं रहता, पर उत्साह के लिए प्रयत्नशीलता आवश्यक है । आनन्दित होकर केवल हँस देने पर ही उत्साहित नहीं कहा जा सकता है । मित्र के आने पर भी यदि सुनने वाला चुपचाप बैठा रहे तो उत्साहित नहीं माना जाता । यदि वह

उठकर मित्र के स्वागत करने की तैयारी करने लगता है, तो उसे उत्साहित कहते हैं ।

अतः रामचन्द्र शुक्ल ने उत्साह की ठीक परिभाषा दी है कि -

''प्रयत्न या चेष्टा उत्साह का अनिवार्य लक्षण है । प्रयत्न मिश्रित आनन्द का नाम ही उत्साह है ।''

जब आनन्द में प्रयत्न या प्रयत्न की प्रेरणा भी सम्मिलित होती है, तब उस मनोविकार को 'उत्साह' कहते हैं ।

प्रयत्न की परिभाषा

इस परिभाषा को पूरी तरह समझने और स्पष्ट करने के लिए 'प्रसत्न' के स्वरूप को भी समझ लेना आवश्यक है अर्थात् हमें प्रयत्न की परिभाषा भी निश्चित कर लेनी चाहिए ।

प्रयत्न का अर्थ है कुछ करना, किसी कार्य में लगना, कर्मशील होना । पर केवल करना ही प्रयत्न नहीं होता है, जब किसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए कोई कार्य किया जाता है, तब प्रयत्न कहा जाता है । उदाहरण के लिए हम पहले दृष्टान्त को आगे बढायेंगे । मित्र के आगमन का समाचार सुनकर कोई व्यक्ति व्यर्थ ही बार-बार बाहर-भीतर आता जाता है तो उसकी क्रिया को प्रयत्न नहीं कहा जायेगा क्योंकि उसकी यह क्रिया उद्देश्य-विहीन है । बुद्धि द्वारा निश्चय करने के बाद वस्तु को प्राप्त करने के लिए हम जिन साधनों में प्रवृत्त होते हैं, उन्हें ही प्रयत्न कहा जाता है ।

अतः उत्साह की परिभाषा निम्न प्रकार है -

''किसी उद्देश्य से प्रेरित होकर आनन्दपूर्वक किसी क्रिया में प्रवृत्त होने को उत्साह कहते हैं ।''

3.3.10. प्रयत्नों के आधार पर उत्साह के भेद

श्री रामचन्द्र शुक्ल ने प्रयत्नों के भेद के आधार पर उत्साह के दो भेद माने हैं -

नयी कविता में यौनाकर्षण बौद्धिक जटिलतावाले विशुद्ध मानव का यौनाकर्षण है, वे न तो उसके सहज रूप को किन्हीं आध्यात्मिक शिखरों पर प्रतिष्ठित करने का प्रयासी है और न किसी नैतिकता का आवरण ओढ़ने को तैयार है, न तो नारी को नरक का द्वार मानता है, न स्वर्ग की अप्सरा ।

वेदना की अनुभूति :

नयी कविता में कवि पलायनवादी नहीं है, वह उस वेदना के सान्निध्य को अभिलाषा करता है । इसे उसने दो रूपों में स्वीकार किया है - एक तो वेदना को सहन करने की लालसा के प्रकटी करण में और दूसरे वेदना या पीड़ा की अतल गहराइयों में बैठकर नए अर्थ की उपलब्दियों के रूप में । भारत भूषण अग्रवाल वेदना को उत्साहवर्धिनी मानते हैं -

'पर न हिम्मत हार ;
प्रज्वलित है प्राण में अब भी व्यथा का दीप
ढाल उसमें शक्ति अपनी
लौ उठा ।'

मुक्तिबोध की मान्यता है कि वेदना अथवा पीड़ा के अवशेष मानव की संघर्ष शक्ति को उभरते हैं ।

क्षणवाद में आस्था :

नयी कविता में क्षण की महता को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । कहने का अभिप्राय यह है कि जीवन का एक सुखद क्षण विशेष, शेष सारे जीवन से अधिक श्रेयस्कर है - जीवन को भविष्य और भूतकाल से शृंखलित करके चलना जीवन में विषमता, अनास्था और निराशा को भरना है, वर्तमान में लिए जानेवाला क्षण शाश्वत है, सनातन है और उसी का मूल महत्व है ।

उदा : - अज्ञेय की ये पंक्तियाँ
'शाश्वत हमारे लिए वही है
अजर अमर है
वेदितव्य अक्षर है ।'

प्रयत्न करता है । उसके इन प्रयत्नों के द्वारा ही सफलता की प्राप्ति निश्चित हो जाती है और तब वह सफलता के उपभोग का प्रयत्न आरम्भ कर देता है ।

उत्साह का विस्तार

मनुष्य के मनोवेगों की एक विशेषता होती है कि वे अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करते हैं । एक उदाहरण से यह बात और अधिक स्पष्ट हो सकेगी । जब हम क्रोध की अवस्था में बैठे रहते हैं तो किसी के समझाने पर हम समझानेवाले पर झुँझलाहट प्रकट करने लगते हैं । इस झुँझलाहट का उद्देश्य यही होता है कि हम किसी दूसरी की शिक्षा नहीं सुनना चाहते ओर अपनी क्रोध की अवस्था में ही रहना चाहते हैं । कभी-कभी हम एक व्यक्ति का क्रोध व्यर्थ ही दूसरे व्यक्ति पर निकालते हैं । इस तरह क्रोध का विस्तार हो जाता है ।

उत्साह की भी विशेषता है । एक व्यक्ति यदि अपने मित्र के आने के समाचार को सुनकर उत्साहित हो रहा है तो वह अन्य कामों में भी उत्साह प्रकट करता है । उत्साह की अवस्था में वह किसी दूसरे मित्र से भी बड़े उत्साह से बातें करने लगता है । यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है और इसलिए हाकिम से मिलने वाले पहले उनके नौकरों से उसका मिजाज पूँछ लेते हैं । यदि हाकिम प्रसन्न अवस्था में होता है, तो वे जाते हैं अन्यथा नहीं ।

3.3.11. उत्साह और आशा का अन्तर

उत्साह और आशा नामक मनोविकार कुछ-कुछ मिलते हुए मनोविकार हैं । दोनों का सम्बन्ध एक ही मूल विकार 'सुख' से हे । दोनों में हृदय को आनन्द का अनुभव होता है और दोनों का ही संबन्ध, लाभदायक भविष्य से है पर दोनों में एक मुख्य अन्तर भी है । उत्साह के लिए प्रयत्न आवश्यक है । प्रयत्न उत्साह का अनिवार्य लक्षण है, पर आशा के लिए प्रयत्न आवश्यक नहीं है । आशा में भी लाभ-प्राप्ति का निश्चय पूर्ण नहीं होता । अतः प्रयत्न की

प्रेरणा भी प्राप्त नहीं होती । लोग बैठे-बैठे और लेटे-लेटे भी आशा करते हैं, पर उत्साहित होने पर व्यक्ति बैठा या लेटा नहीं रहता है, वह क्रिया में प्रवृत्त हो जाता है ।

3.3.12. उत्साह और फल का सम्बन्ध

अन्त में एक और भी बात पर विचार करना जरूरी है - उत्साह अर्थात् प्रयत्न और फल का क्या सम्बन्ध है ? श्री रामचन्द्र शुक्ल ऐसा नहीं मानते । उनके अनुसार ही फल पहले से बनाया पदार्थ नहीं, बल्कि फल का निर्माण कार्य से ही होता है । अनुकूल कार्य करने पर फल धीरे-धीरे बनता है और जैसे-जैसे कार्य बढ़ता जाता है फल की प्राप्ति भी निकट आ जाती है ।

अतः मनुष्य को कर्म का (प्रयत्न) महत्व अधिक मानना चाहिए । सफल प्रयत्न से फल बाद में मिलता ही है, पर यदि किसी कारण फल नहीं मिलता है, तो ग्लानि उत्पन्न नहीं होती । मनुष्य की आत्मा अपने सामने लज्जित नहीं होती । कर्म में आनन्द का अनुभव करना ही सच्चा कर्म योग है । गीता में भी फल की चिन्ता छोड़कर कर्म करने का उपदेश दिया गया है ।

उत्साह एक महत्वपूर्ण मनोविकार है । मनुष्य के कल्याण में इसका विशेष महत्व है ।

3.4. समाहार

शुक्लजी ने 'श्रद्धा-भक्ति' निबंध में निम्नलिखित विषयों का समुद्घाटन किया है - (1) श्रद्धा, किसी व्यक्ति में उसमें विशेष गुण के उत्कर्ष से होती है, प्रेम में प्रिय के गुण और कर्मों का महत्व नहीं होता ; (2) प्रेम का क्षेत्र संकुचित और श्रद्धा का विस्तृत होता है ; (3) प्रेम में प्रेमी और प्रिय दो पक्ष होते हैं, जबकि श्रद्धा में तीसरा पक्ष गुण भी होता है ; (4) प्रेम का कारण अज्ञात और श्रद्धा का ज्ञात होता है ; (5) प्रेम स्वानुभव पर आधारित होता है, जबकि श्रद्धा दूसरों के अनुभव से भी उत्पन्न होती है ; (6) प्रेमी प्रिय पर अपना

एकाधिकार चाहता है, जबकि श्रद्धालु श्रद्धेय पर किसी प्रकार का अपना अधिकार नहीं रखता ; (7) श्रद्धा से जीवन की कठिनाइयों पर विजय प्राप्त होती है और श्रद्धा एक सामाजिक भाव है ; (8) श्रद्धा में लोकमंगल की भावना रहती है, जबकि प्रेम में एकांतता ; (9) श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है ; (10) मनुष्य जिन गुणों को अपने श्रद्धेय में देखकर आनंदित होता है, उन्हीं को विराट् रूप में परमात्मा में देखना ही भगवद् भक्ति है ।

'उत्साह' निबंध में आचार्य शुक्ल ने निम्नांकित तथ्यों का विस्तृत विवेचन किया है और यह स्पष्ट किया है कि (1) उत्साह का संबंध सुख के मूल भाव से है ; (2) प्रयत्न मिश्रित आनंद का नाम उत्साह है ; (3) उत्साह का विस्तार मंगल और कल्याण का प्रसार करता है ; (4) उत्साह और आशा में अंतर यह है कि प्रयत्न उत्साह का अनिवार्य लक्षण है, जबकि आशा में प्रयत्न आवश्यक नहीं है ; (5) उत्साह एक महत्वपूर्ण मनोविकार है और मनुष्य के कल्याण में इसका विशेष महत्व है ।

3.5. बोध प्रश्न

1. 'श्रद्धा-भक्ति' निबंध की विषय-वस्तु लिखकर उसकी समीक्षा कीजिए ।
2. श्रद्धा की परिभाषा देते हुए श्रद्धा और प्रेम का अंतर स्पष्ट कीजिए ।
3. श्रद्धा के भेद स्पष्ट करते हुए श्रद्धा और भक्ति में अंतर समझाइए ।
4. श्रद्धा के प्रकार स्पष्ट कीजिए ।
5. 'उत्साह' निबंध की विषय-वस्तु लिखकर उसके भेद पर प्रकाश डालिए ।
6. शुक्लजी के द्वारा की गयी उत्साह की व्याख्या को समझाते हुए उसके प्रकारों पर प्रकाश डालिए ।

7. मनोभावों का सूक्ष्म भेद निरूपित करते हुए उनके पारस्परिक संबंध बताइए ।
8. उत्साह की परिभाषा देते हुए उत्साह के भेद पर प्रकाश डालिए ।
9. 'उत्साह' निबंध की विशेषताओं पर लेख लिखिए ।

NOTES

इकाई चार : हजारीप्रसाद द्विवेदी और उनके निबंध

इकाई की रूपरेखा

4.0. उद्देश्य

4.1. प्रस्तावना

4.2. हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबंधों का सामान्य परिचय

4.3. द्विवेदीजी के निबंधों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण

4.3.1. समीक्षात्मक निबंध

4.3.2.सांस्कृतिक निबंध

4.3.3.ऐतिहासिक निबंध

4.3.4.वैयक्तिक निबंध

4.3.5.गवेषणात्मक निबंध

4.4. द्विवेदीजी के निबंधों की लेखन-शैली

4.5. द्विवेदीजी के निबंधों की भाषा

4.6. द्विवेदीजी के निबंधों की रचना संबंधी विशेषताएँ

4.7. द्विवेदीजी का निबंध - 'अशोक के फूल'

4.8. द्विवेदीजी का निबंध - 'भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या'

4.9. द्विवेदीजी का निबंध - 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है '

4.10. समाहार

4.11. बोधप्रश्न

4.0. उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अंतर्गत डॉ.हजारीप्रसाद द्विवेदीजी के निबंधों का परिचय तथा उनकी विशेषताओं की विशद चर्चा की जा रही है, जिसके अध्ययन के बाद आप -

1. द्विवेदीजी के निबंधों का समग्र परिचय प्राप्त करेंगे ;
2. द्विवेदीजी के निबंधों का वर्गीकरण व विश्लेषण कर पायेंगे ;
3. द्विवेदीजी के निबंधों की लेखन-शैली से परिचित होंगे ;
4. द्विवेदीजी के निबंधों की भाषा की जानकारी प्राप्त करेंगे ;
5. द्विवेदीजी के निबंधों की विशेषताओं से परिचित होंगे ;
6. उनसे रचित 'अशोक के फुल' निबंध के प्रतिपाद्य से अवगत होंगे ;
7. 'भरतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या' निबंध के सार को समझ पायेंगे ;
8. 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' निबंध के महत्व को समझ पायेंगे ;
9. निबंध-साहित्य में द्विवेदीजी का स्थान निर्धानित कर सकेंगे ।

4.1. प्रस्तावना

हिन्दी-साहित्य के निबंध-क्षेत्र में डॉ.हजारीप्रसाद द्विवेदीजी का अत्युन्नत स्थान है । उनके निबंध विचारों से परिपूर्ण तो रहते ही हैं ; साथ ही, उनमें चिंतनशील तत्वों का प्राधान्य भी रहता है । उनके निबंध अधिकांशतः व्याख्यात्मक होते हैं । कहीं-कहीं उनमें भावुकता का अंश भी प्राप्त होता है । उनके विचार-प्रधान निबंधों में द्विवेदीजी अन्वेषक के रूप में दिखायी देते हैं । द्विवेदीजी जो कुछ भी कहते हैं, वह अत्यंत स्पष्ट होता है, किसी उलझन में डालनेवाला नहीं । विचार-प्रधान निबंधों के अतिरिक्त उनके कल्पना-प्रधान निबंध भी उत्कृष्ट रचनाएँ हैं । इन निबंधों में उनकी आत्मा अनुकूल वातावरण प्राप्त कर मुखरित हो उठी है । 'अशोक के फूल' - निबंध-संग्रह में अधिकतर इसी प्रकार के निबंध हैं, जिनमें रस, भाव और कल्पना का सुंदर सामंजस्य है । सांस्कृतिक निबंधों में भारतीय संस्कृति

संबंधी विचारों का दिग्दर्शन कराया गया है । उनके ऐसे निबंधों में उनकी प्राचीनता और नवीनता की समन्वयवादी भावनाओं का स्पष्ट रूप गोचर होता है। गवेषणात्मक निबंध इनसे भिन्न हैं । अपभ्रंश-साहित्य, नाथ-साहित्य तथा जैन-साहित्य आदि के गंभीर अध्ययन के पश्चात् उन्होंने तत्संबंधी संप्रदायों के सिद्धांतों और उनकी मान्यताओं पर जो निबंध लिखे हैं, वे हिन्दी-साहित्य की स्थायी निधि हैं । उनके निबंधों में स्वाभाविकता है । उनका प्रत्येक शब्द उनके विचारों के साँचे में ढ़ला हुआ होता है । उनके वाक्यों में विचारों की श्रृंखला बराबर बनी रहती है । द्विवेदीजी की भाषा शुद्ध-साहित्यक हिन्दी है । उन्होंने संस्कृत के सरल तथा क्लिष्ट दोनों प्रकार के तत्समों का विषय के अनुसार प्रयोग किया है । अर्थात् उनकी संस्कृत-प्रधान प्रांजल भाषा में तत्समता के साथ-साथ बोधगम्यता, व्यावहारिकता, चमत्कारिता आदि की झलक व्यापकता के साथ मिलती है । कहीं-कहीं उर्दू तथा अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी मिलता है । द्विवेदीजी की प्रतिभा मात्र निबंध-क्षेत्र में नहीं, अपितु साहित्य के विविध अंगों के द्वारा भी विकसित हुई है । द्विवेदीजी हिन्दी के सफल श्रेष्ठ साहित्यकार हैं ।

4.2. हजारीप्रसाद द्विवेदीजी के निबंधों का सामान्य परिचय

डॉ.हजारीप्रसाद द्विवेदी अद्यतन युग के मूर्धन्य निबंधकार हैं । इन्होंने विविध विषयों पर निबंध लिखे हैं । इनके अधिकांश निबंध विचारात्मक निबंधों की कोटि में आते हैं । विचारात्मक निबंधों की परम्परा में इनका योगदान सर्वथा सराहनीय है ।

डॉ. द्विवेदी ने विविध प्रकार के प्राचीन एवं अर्वाचीन विषयों पर निबंध लिखे हैं, जिनमें यदि कहीं भारतीय संस्कृति एवं धर्म का विवेचन किया गया है तो कहीं रामायण एवं महाभारत की समीक्षा की गई है । कहीं यदि वैदिक एवं बौद्ध साहित्य का निरूपण किया गया है तो कहीं योगमार्ग एवं सन्तमत पर गम्भीर विचार व्यक्त किए गए हैं । कहीं यदि संस्कृत और हन्दी के कवियों के मर्म का

उद्‌घाटन किया गया है, तो कहीं साहित्य के इतिहास और समालोचना पर मार्मिक विचार व्यक्त किए गए हैं । कहीं यदि फलित ज्योतिष तथा इन्द्रजाल पर अपनी राय प्रकट की गई है तो कहीं नाट्यकला तथा वात्स्यायन की कलाओं पर अपना मार्मिक मत प्रकट किया गया है । कहीं यदि प्राचीन केश संस्कार और अधर एवं नाखून की रंगाई पर अपने विचार व्यक्त किए हैं तो कहीं प्राचीन अनुलेपन और मुख प्रक्षालन तथा दातुन पर अपनी बात कही है । कहीं यदि प्राचीन भारत के रईसों की जाति पर कुछ सम्मति प्रकट की गई है तो कहीं प्राचीन रईस और राजाओं के विविध मनोरंजनों का विवरण प्रस्तुत किया गया है ।

इस प्रकार अपने साहित्य, धर्म, संस्कृति, नीति, राजनीति, क्रीडा-विलास, प्रसाधन, प्रकृति, कला, अभिनय, ऋतु, उत्सव, मनोविनोद, विविध विद्याएँ आदि पर अपनी लेखनी चलाकर हिन्दी निबंध के क्षेत्र को अधिक विस्तृत एवं विशाल बनाया है ।

डॉ. द्विवेदी के निबंधों में मुख्यतया भारतीय संस्कृति की जीवंत परम्परा विद्यमान है । इनके निबंध भारतीय जन-जीवन की मनोरम झाँकी प्रस्तुत करते हैं , राष्ट्रीय विचारों को व्यक्त करते हैं और ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्व का प्रचार एवं प्रसार करते हैं । इनके निबंधों में बुद्धि और हृदय का सफल सामंजस्य हुआ है, जहाँ विचारों की गूढ़, गुम्फित परम्परा विद्यमान है । इनमें धर्म और दर्शन की प्रौढ़-विचारधारा मिलती है । इतिहास दृष्टि, जीवन दर्शन और साहित्यिक आदर्श की त्रिवेणी विद्यमान है और इनमें शिक्षा-साहित्य तथा संस्कृति की धाराएँ बह रही हैं । इनके निबंधों में जहाँ साहित्य और संस्कृति की अखण्ड धारा प्रवाहित हो रही है, वहाँ दैनंदिन जीवन की विविध गतिविधियों, क्रिया-व्यापारों, अनुभूतियों आदि का चित्रण भी अत्यन्त सजीवता एवं मार्मिकता के साथ हुआ है । इनके निबंध विद्वत्ता, प्रतिभा, एवं पांडित्य के उज्ज्वल उदाहरण हैं । इन निबंधों में विषय की विविधता के साथ-साथ लेखक की सूक्ष्म दृष्टि,

गहन-अनुभव, गम्भीर-चिन्तन, विशिष्ट दृष्टिकोण एवं रोचक शैली के भी दर्शन होते हैं । निबंधों के माध्यम से जितना इन्होंने कुछ कहा है उतना अभी तक हिन्दी का कोई भी निबंधकार नहीं कह पाया है । निस्संदेह इनके निबंध इनकी गहन अनुभूतियों के भण्डार हैं, व्यापक एवं सजग संवेदनाओं के अक्षय स्रोत हैं । ऐतिहासिक खोजों के सुन्दर निदर्शन हैं, उर्वर प्रतिभा के नमूने हैं, प्रचंड पांडित्य एवं सजग सहृदयता की अनुपम निधि हैं, स्वाधीन चिन्तन की अलौकिक उपज है, साहित्यिक समस्याओं को समझने हेतु अद्वितीय कोश हैं, वैयक्तिक विचारों एवं भावनाओं के असीम सागर हैं और जीवन-यात्रा के विशिट पग-चिह्न हैं । इन निबंधों में आशा-विश्वास, राग-विराग, धारणा-मान्यता, कल्पना-अनुभूति, आदर्श-यथार्थ, विलास-विनोद, कला-विद्या आदि की अभिव्यक्ति अत्यन्त गहनता, तीव्रता एवं सजगता के साथ हुयी है । ये सभी निबंध लेखक के गहन चिन्तन-मनन एवं सूक्ष्म निरीक्षण से परिपूर्ण है और अनमें मानसिक स्थिति के अनुकूल सरस, रोचक, बोधगम्य एवं अनौपचारिक शैली का प्रयोग हुआ है । ये निबंध संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू आदि भाषाओं की शब्दावली से अलंकृत है तथा इनमें भाषा सम्बन्धी अत्यन्त उदार दृष्टिकोण अपनाया गया है । अतः विषयों की विविधता, भावों और विचारों की गहनता एवं अनौपचारिकता आदि से सुसज्जित होने के कारण ये विचारात्मक निबंध हिन्दी साहित्य की विलक्षण कृतियाँ हैं और द्विवेदीजी अपने अद्‌भुत रचना-कोशल, विचित्र विचार-प्रदर्शन एवं अनुपम अभिव्यंजना वैविध्य के कारण इस क्षेत्र में अद्यतन निबंधकारों के अन्तर्गत विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं ।

4.3. द्विवेदीजी के निबन्धों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण

डॉ.हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने मुख्यतया विचारात्मक निबंध लिखे हैं, किन्तु उन्होंने भावात्मक, वर्णनात्मक और विवरणात्मक निबंधों का भी प्रणयन किंया है । ये उच्चकोटि के गद्य लेखक हैं । इनके कई ग्रन्थ प्राकाशित हो चुकें हैं, जिनमें से कबीर, बाणभट्ट की

आत्मकथा, मेघदूत, एक पुरानी कहानी, सूर साहित्य, चारू-चन्द्र लेख आदि प्रसिद्ध हैं ।

द्विवेदीजी के निबंधों को मुख्यतया पाँच भागों में विभाजित कर सकते हैं -

1. समीक्षात्मक, 2. सांस्कृतिक, 3. ऐतिहासिक, 4. वैयक्तिक, 5. गवेषणात्मक

4.3.1. समीक्षात्मक निबंध

इसके अन्तर्गत वेष्णव कवियों की रूपोपासना, समीक्षकों की समीक्षा, प्रेमचन्द का महत्व, प्रसाद की कामायनी, हिन्दी का भक्ति साहित्य, दादू, मधुर रस की साधना, संस्कृत साहित्य में कलंहस, सहज भाषा का प्रश्न, संस्कृत और हिन्दी, कविता का भविष्य, भारतीय साहित्य की प्राण शक्ति, नया साहित्यिक दृष्टिकोण, साहित्य निर्माण का लक्ष्य, रस का व्यवहारिक अर्थ, रस क्या है, साहित्य का नया रास्ता, रीतिकाव्य, इतिहास का सत्य, भारतीय चिन्ता का स्वाभाविक विकास, मध्य-युग के संतों का सामान्य विश्वास, भक्तिकाल के प्रमुख कवियों का व्यक्तित्व, हिन्दी को पंजाब की देन, हिन्दी का वर्तमान और भविष्य आते हैं । इन निबंधों में व्यावहारिक एवं शास्त्रीय समीक्षा का भव्य रूप विद्यमान है । ये सभी निबंध विचारात्मक हैं और स्वाधीन चिन्तन एवं मनन के अतिरिक्त एक आलोचक के कर्तव्य का उज्ज्वल रूप प्रस्तुत करते हैं । इनमें विद्वान लेखक ने अपने गहन अध्ययन, प्रकांड पांडित्य, उदात्त दृष्टिकोण, विचारों की गूढ़ श्रृंखला तथा संवेदनशीलता के साथ-साथ श्रव्य साहित्य तथा लोक-साहित्य के सम्यक् आकलन में नूतन समन्वयवादी विचार एवं नूतन समाजवादी दृष्टिकोण को अपनाया है ।

4.3.2. सांस्कृतिक निबंध

इन निबंधों का सम्बन्ध भारतीय संस्कृति की उज्ज्वल परम्परा से है । जैसे - भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या, हमारी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली, भारतीय संस्कृति की देन, भारतीय फलित ज्योतिष,

शव-साधना, पंडितों की पंचायत, हमारी संस्कृति और साहित्य का संबंध, प्रायश्चित की घड़ी, घर जोडने की माया, कला महामाया की सम्मूर्तन शक्ति, प्राचीन भारत की सामाजिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि, मेरी जन्मभूमि, शकुन-सूक्ति, संस्कृति के मूल स्रोत-वेद, दीपावली-सामाजिक मंगलेच्छा पर्व, धार्मिक विप्लव और शास्त्र, जीवेमशरदः शतम् आदि । डॉ.द्विवेदी के ये सभी वर्णनात्मक हैं, भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष के साथ-साथ हमारे सांस्कृतिक महत्व के उद्घोषक हैं, हमारे सांस्कृतिक दृष्टिकोण के परिचायक हैं, हमारी सांस्कृतिक मान्यताओं एवं धारणाओं के प्रदर्शक हैं, हमारी दैनिक जीवन की गतिविधियों के द्योतक हैं जिनके आधार पर हम यह जान सकते हैं कि हमारे भारतीय समाज में ज्योतिष ने किस तरह अपना सिक्का जमा रखा था और राजा एवं रंक सभी ज्योतिष में गहन आस्था रखते थे । उठना-बैठना, जाना-आना, क्या देखना अच्छा है, क्या देखना बुरा है, नारी के कौन से लक्षण उसे रानी बना देते हैं आदि विविध बातों की जानकारी इन निबंधों में मिलती है ।

4.3.3. ऐतिहासिक निबंध

इसके अंतर्गत लेखक ने विविध प्रकार की ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत की है । ये निबंध विवरणात्मक हैं । जैसे-वैशाली, वात्स्यायन की कलाएँ, कलाओं की प्राचीनता, कलाओं के आश्रयदाता रईस, अनुलेपन, केश-संस्कार, अधर और नाखून की रंगाई, ताम्बूल सेवन, अन्तःपुर की वृक्षवाटिका, ढोला-विलास भवन दीर्घिका, अन्तःपुर का सुरूचिपूर्ण जीवन, शुक-सारिका, वीणा, कल्पवल्ली, भित्तीचित्र, कुमारी और वधू, प्रस्तर-लेख, स्वर्ण और रजत पत्र, अलंकार, वज्र और हीरा, भंडन द्रव्य, उत्सव और प्रेक्षागृह, गुफायें और मन्दिर, मृगया-विनोद, मल्लविद्या आदि । ये सभी निबंध विविध कलाओं के ऐतिहासिक पक्ष का निरूपण करते हुए भारत के जन-जीवन की दिव्य झाँकी प्रस्तुत करते हैं और उनके कला-विनोद, पर्वोत्सव आदि का सम्यक् निरूपण भी करते हैं ।

4.3.4. वैयक्तिक निबंध

इन निबंधों में भावना, कल्पना एवं अनुभूति की त्रिवेणी प्रवाहित हो रही है, जो गहन संवेदना से परिपूर्ण हैं, जिनमें भावुकता और सहृदयता का ज्वार उठ रहा है और जो लेखक के वैयक्तिक अनुभवों की सुदीर्घ परम्परा का द्योतक है । इसमें अशोक के फूल, वसंत आ गया है, सावधानी की आवश्यकता, वन्या आपने मेरी रचना पढ़ी है, एक कुत्ता और एक मैना, आम फिर बौरा गये, शिरीष के फूल, नव वर्ष आ गया, मेरी जन्मभूमि, नाखून क्यों बढ़ते हैं, जब कि दिमाग खाली है, देवदारू, आत्मदान का संदेशवाहक-वसंत, फिर से सोचने की आवश्यकता है, कुटज - ये सभी-निबंध भावात्मक हैं । इनमें कल्पना की ऊँची-ऊँची उडानें हैं, भावनाओं का क्रीडा-विनोद है, संवेदनाओं की तीव्र बाढ़ है, अनुभूतियों की उद्दाम झंकार है, कवित्व की अद्‌भुत मधुरिमा है और वैयक्तिक जीवन की अमिट छाप है । ये निबंध ललित निबंधों की कोटि में आते हैं । ये सभी निबंध निस्संदेह विद्वान लेखक की सहृदयता के द्योतक हैं, संवेदनशीलता के द्योतक हैं । इन निबंधों में स्वाधीन चिन्तन एवं मानसिक क्रीड़ा-विलास दर्शनीय है ।

4.3.5. गवेषणात्मक निबंध

ये ऐतिहासिक खोज से सम्बन्धित निबंधों में आते हैं, जिसमें भारतय विद्या (इंडोलजी) के विविध भेद-प्रभेदों के अध्ययन की गरिमा विद्यमान है । जैसे हिन्दी में शोध का प्रश्न, कलाओं की प्राचीनता, हिन्दी का आदिकाल, संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त परिचय, महाभारत क्या है, रामायण और पुराण, बौद्ध साहित्य, बौद्ध संस्कृत साहित्य, जैन साहित्य, कवि समय और काव्य समय, कवि प्रसिद्धियाँ आदि । इन निबंधों में गहन अध्ययन एवं अनुशीलन के आधार पर प्राचीन ग्रंथों में विद्यमान तथ्यों, विवरणों, तत्वों, एवं प्रमुख बातों को विद्वान लेखक ने सरल, सुबोध एवं बोधगम्य ढंग-से प्रस्तुत किया है कि प्राचीन साहित्य एवं कला का सम्यक् बोध हो जाता है और भारतीय वाङ्मय की गुरूता एवं महत्ता का भी ज्ञान भली प्रकार हो सकता है । विविध तथ्यों का संकलन करके उन्हें अत्यन्त अलंकृत एवं

आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया गया है ।

इस प्रकार द्विवेदीजी के निबंधों में भारतीय दर्शन, संस्कृति, इतिहास, ज्योतिष विज्ञान, धर्म, कला, साहित्य का उज्ज्वल एवं जीवंत रूप विद्यमान है ।

4.4. द्विवेदीजी के निबंधों की लेखन-शैली

डॉ.द्विवेदीजी ने जिस प्रकार विविध विषयों पर निबन्धों की रचना की, उसी प्रकार विविध शैलियों का भी प्रयोग किया है, जिनमें इनकी भावना, विचार पद्धति, अनुभूति एवं मानसिकता की अभिव्यक्ति हुयी है और जो इनकी निजी प्रणाली है । इनकी शैलियों को ग्यारह भागों में विभक्त कर सकते हैं - 1. समीक्षात्मक शैली, 2. वार्तामूलक शैली, 3. वक्तृत्व शैली, 4. चिंतनमूलक शैली, 5. विक्षेप शैली, 6. तरंग शैली, 7. विवरणात्मक शैली, 8. गवेषणात्मक शैली, 9. इतिवृत्तात्मक शैली, 10. आत्मपरक शैली, 11. व्यंग्यात्मक शैली ।

4.5. द्विवेदीजी के निबंधों की भाषा

डॉ.हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबंध उनके अक्षय ज्ञान के भण्डार हैं, जिनमें ज्योतिष, दर्शन, समाजशास्त्र, संस्कृति, भाषाविज्ञान, नीतिशास्त्र, इतिहास, साहित्यशास्त्र आदि की गहन चिंतन-धारा विद्यमान है और जो इन सभी ज्ञान-विज्ञान की पदावली से सुसज्जित हैं । इनका शब्द-भण्डार अनन्त एवं असीम है । उन्होंने सभी प्रचलित भाषाओं की शब्दावली का प्रयोग करके हिन्दी भाषा को सम्पन्न एवं समृद्ध बनाया है तथा भाषा के बारे में उनका दृष्टिकोण भी अत्यन्त उदार रहा है । वे विदेशी शब्दों का सर्वथा परित्याग उपयुक्त नहीं मानते । उनका तो स्पष्ट विचार है कि जो भाषा अधिक से अधिक विदेशी शब्दों को हजम करना जानती है, वह श्रेष्ठ है । इसलिए इन्होंने अधिक से अधिक विदेशी शब्दों को अपने भाव-प्रकाशन के लिए अपनाना बुरा नहीं माना, किन्तु उन्हें भारतीय बनाकर काम में लाना श्रेयस्कर मानते हैं । इनकी भाषा में संस्कृत, उर्दू-फारसी,

अंग्रेजी, तिब्बती, प्राकृत, अपभ्रंश, बंगला आदि विविध भाषाओं के शब्द मिलते हैं ।

इन्होंने सामासिक शब्दों का प्रयोग किया है । इन्होंने यत्र-तत्र देशज अथवा ग्रामीण, बोलचाल के ग्राम्य शब्दों का प्रयोग किया है, जिससे भाषा में स्थानीय रंग भी देखा जा सकता है । इसी प्रकार अपनी भाषा को लोकप्रिय, सरस, एवं मनोरंजक बनाने के लिए बीच-बीच में हिन्दी-पद्य खण्ड़ो के उद्धरणों का प्रयोग भी प्रचुर मात्रा में किया है । उपमा, रूपक, मानवीकरण आदि अलंकारों ने आपकी भाषा में उक्ति वेचित्र्य के साथ-साथ अनुपम अर्थ गांभीर्य की सृष्टि की है और वह गद्य-काव्य के निकट जा पहुँची है । इनकी भाषा में कहावतों एवं मुहावरों ने भी अर्थ-दीप्ति, उक्ति-वक्रता एवं लाक्षणिकता से युक्त अनुपम कलात्मकता उत्पन्न करने का कार्य किया है ।

इस प्रकार इनकी भाषा परिनिष्ठित, सुसंस्कृत एवं शिष्टजनानुमोदित है । वह व्याकरण के अनुशासन से अनुशासित है । उसमें सभी प्रकार के विचारों एवं भावों के वहन करने की अपूर्व क्षमता है । वह जनसाधारण के सर्वथा अनुकूल है । वह सर्व साधारण के बोलचाल से सुसज्जित है । पांडित्यपूर्ण विवेचन के साथ व्यंग्य एवं विनोद से परिपूर्ण है । उसमें भावुकता एवं कवित्व की छटा भी विद्यमान है तथा वह सरल एवं बोधगम्य है ।

4.6. द्विवेदीजी के निबंधों की रचना संबंधी विशेषताएँ

विशेषताएँ निम्नलिखित हैं -

1. निबंध चिन्तन एवं मनन से परिपूर्ण भारतीय संस्कृति एवं भारतीय सभ्यता पर आधारित है । जीवन और जगत की गहन अनुभूतियों के भंडार हैं ।
2. निबंध सूक्ष्म निरीक्षण, पैनी दृष्टि, गहन अनुभूति, मौलिक विचार-श्रृंखला, असाधारण विद्वत्ता से परिपूर्ण एवं लोक-हित की भावना से ओतप्रोत है ।
3. इनकी रचनाओं में प्रकृति-निरीक्षण प्रभावोत्पादक एवं भावोत्तेजक है ।

4. निबंध संस्कृत-साहित्य के गहन अध्ययन से परिपूर्ण हैं ।
5. इनके निबंधों में भारतीय संस्कृति की जीवन्त परम्परा के साथ-साथ राष्ट्रीय भावों की अविच्छिन्न धारा भी प्रवाहित हो रही है ।
6. निबंधों में साहित्य, दर्शन, संस्कृति, कला, ज्योतिष, योग-धर्म, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, खगोल आदि विषयों का संगम हुआ है ।
7. निबंधों में सांस्कृतिक परम्परा, जीवन-दर्शन और मानवीय आदर्शों की अद्‌भुत छटा विद्यमान है ।
8. निबंधों की रचना स्वयं के अनुभवों पर हुयी है ।
9. निबंध रचना में संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला, तिब्बती, उर्दू-फारसी आदि भाषाओं के साहित्य का योगदान रहा है ।
10. इनके कतिपय निबंध इनकी स्वाधीन चिन्तन की भी उपज हैं ।
11. निबंधों में विविध साहित्यिक समस्याओं, भाषा सम्बंधी वाद विवादों, समीक्षा के सिद्धांतों, कविता के भविष्य आदि पर जो अपने मौलिक एवं सारगर्भित विचार व्यक्त किए हैं, वे सर्वथा अनके नूतन दृष्टिकोण, विचार-सौष्ठव के द्योतक हैं ।
12. इन्होंने अपने निबंधों द्वारा स्वस्थ समीक्षा को प्रोत्साहन दिया है ।
13. निबंधों में कहीं-कहीं व्यंग्य और विनोद भी विद्यमान है जो मर्मस्पर्शी है ।
14. रचना में तथ्य-विवेचन, व्याख्या और अंत में निष्कर्ष भी निकालते हैं ।
15. रचना-पद्धति में अकृत्रिमता, अनौपचारिकता, सूक्ष्म निरीक्षण, रोचकता आदि गुण मिलते हैं ।
16. इनकी रचना-पद्धति इनकी मानसिक चिन्तन एवं मनःस्थिति के अनुकूल परिवर्तित होती रहती है ।

इस प्रकार द्विवेदीजी ने पांडित्यपूर्ण, विवेचन पद्धति का प्रचार कर अद्यतन युग के अग्रगण्य निबंधकार का स्थान प्राप्त कर लिया है ।

4.7. द्विवेदीजी का निबंध - 'अशोक के फूल'

द्विवेदीजी इस निबंध में अशोक वृक्ष से सम्बद्ध भारत की पुरातन प्रथाओं का स्मरण करते हुए अपनी-गहन अनुभूति को व्यक्त करते हैं । अशोक वृक्ष पर खिले लाल-लाल पुष्प अत्यन्त ही मनमोहक होते हैं । कन्दर्प देवता ने अन्य मनोहर पुष्पों को छोड़कर सिर्फ पाँच फूलों को ही अपने तूणीर में स्थान दिया, जिसमें ये अशोक का फूल भी एक था ।

लेखक इस सुन्दर अशोक फूल को हतभाग्य समझते हैं, जिसे देख उनका मन उदास हो जाता है । उस उदासी की तह तक पहुँचना चाहते हैं पर असमर्थ रह जाते हैं ।

अशोक के फूल के ऐतिहासिक महत्व को बताते हुए वे कहते हैं कि भारतीय साहित्य में इस पुष्प का प्रवेश और निर्गम दोनों ही विचित्र नाटकीय व्यापार हैं । भारतवर्ष में अशोक के फूल ने कालिदास से पहले ही अपनी सुन्दरता की छाप छोड़ रखी थी, लेकिन कालिदास के काव्यों में यह जिस शोभा और सौकुमार्य का भार लेकर असमें प्रवेश किया वह पहले नहीं था । फिर मुसलमानों के शासनकाल में इस सुन्दर फूल का महत्व कम हो गया । महत्व के कम होने पर भी इस फूल की सुन्दरता को किसी ने भुलाया नहीं, वरन् उसका नाम सभी लोग लेते थे । कालिदास ने जो अशोक के फूल को सम्मान दिया वह अपूर्व था । यह अशोक के फूल सुन्दरियों की शोभा को सौ-गुना बढ़ा देता था । आज कन्दर्प देवता के अन्य बाणों की तो कदर की जा रही है लेकिन इस अशोक के फूल को सबने भुला दिया है । सबसे दुर्भाग्य की बात तो यह है कि एक तरंगायित पत्रवाले निफूले पेड़ को सारे उत्तर भारत में अशोक कहा

जाने लगा है । अशोक जैसे सुन्दर पुष्प वाले वृक्ष का यह कितना बड़ा अपमान है । भारतीय धर्म, साहित्य और शिल्प में सदियों से इसकी महिमा है । यक्षों और गन्धर्वों ने भारतीय धर्म-साधना को नया रूप दिया । गन्धर्व और कन्दर्प एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न उच्चारण हैं । कन्दर्प देवता ने अशोक के फूल को चुना-यह बात साबित करती है कि यह आर्येतर सभ्यता की देन है । ये जातियाँ, वरूण, कुबेर, वज्रपाणी, यक्षपति के उपासक थीं । कामदेव कन्दर्प देवता का ही दूसरा नाम है । अतः वह गन्धर्व का ही पर्याय है । कामदेवता भगवान शिव के क्रोध का परिणाम भुगत चुके थे । विष्णु भगवान से भी उन्हें भय था । बुद्ध पर भी अपने बाणों से प्रहार कर कामदेव ने उन्हें मार्गच्युत करने का प्रयत्न किया पर कामदेव असफल रहे । पर उन्होंने हार नहीं मानी । अपने अन्तिम अस्त्र अशोक का प्रयोग किया । बौद्ध-धर्म को इस नये अस्त्र से उन्होंने घायल कर दिया । वज्रयान इसका गवाह है ।

भारतवर्ष की इस धरती के माहात्म्य को बताते हुए रवीन्द्रनाथ ने भारतवर्ष को 'महामानव समुद्र' कहा है । यहाँ असुर, आर्य, शक, हूण, नाग, यक्ष, गन्धर्व, अनेकों जातियाँ आयीं और भारतवर्ष को बनाने में अपनी भूमिका निभा कर लुप्त हो गयीं । यह हिन्दू रीति-नीति, अनेक आर्य एवं आर्येतर जातियों द्वारा स्थापित रीति-नीति का मिश्रण है । यहाँ के प्रत्येक पशु, पक्षी, फूल, फल अपनी-अपनी स्मृतियों को लिए हुए हैं । लेखक उन्हीं स्मृतियों को फिर से ताजा करते हुए कहते हैं कि मनोजन्मा देवता ने शिव पर बाण फेंका, जिसके परिणामस्वरूप वे जल कर राख हो गये और 'वामन-पुराण' के अनुसार उनका रत्नमय धनुष टूटकर अनेक खण्डों में विभक्त हो कर धरती पर जा गिरा । रुक्म मणि से बना वह मूठ धरती पर गिर कर चम्पे का फूल बन गया, हीरे का बना नाह-स्थान गिरकर मौलसरी के सुन्दर पुष्प में बदल गया । इन्द्रनील-मणियों का बना हुआ कोटि-देश टूट कर पाटल-पुष्पों में परिवर्तित हो कर धरती पर जा गिरा । चन्द्रकान्त मणियों का बना हुआ मध्य-देश टूटकर

चमेली बन गया और विद्रुम की बनी निम्नतर कोटि बेला बन गयी । इस प्रकार स्वर्ग को जीतने वाला कठोर धनुष जब धरती पर गिरा तो कोमल सुन्दर फूलों में बदल गया । इस धरती की यही महिमा है कि जब कोई भी स्वर्गीय वस्तु धरती से आ मिलती है तब वह मनोहर न जाती है ।

लेखक का अनुमान है कि शायद यह फूल सोम की तरह गन्धर्वों की देन है । क्योंकि एक निश्चित काल के पूर्व इन फूलों की चर्चा हमारे साहित्य में नहीं मिलती । यक्षों और गन्धर्वों के देवता-कुबेर, सोम, अप्सराएँ यद्यपि बाद के ब्राह्मण ग्रन्थों में भी स्वीकृत हैं फिर भी इन्हें अपदेवता के रूप में ही माना जाता रहा है । बौद्ध-साहित्य में ये बुद्ध देव के लिए बाधा के रूप में ही वर्णित हैं ।

महाभारत में ऐसी अनेक कथाएँ हैं जिनमें कहा गया है कि सन्तान-प्राप्ति की कामना लिए अनेक स्त्रीयाँ वृक्षों के अपदेवता यक्षों के पास जाती थीं । यक्ष और यक्षिणी साधारणतः विलासी और उर्वरता-जनक देवता समझे जाते थे । कुबेर तो अक्षय निधि के अधीश्वर भी माने जाते हैं । 'यक्ष्मा' नामक रोग भी इनके साथ जुडा है । कहा जाता है कि अशोक पर सुन्दरियों के चरण-ताड़न से उसमें दोहद का संचार होता है और परवर्ती धर्म ग्रन्थों से यह भी पता चलता है कि चैत्र शुक्ला अष्टमी को व्रत करने और अशोक की आठ पत्तियों के भक्षण से स्त्री की सन्तान कामना पूर्ण होती है ।

'अशोक कल्प' के अनुसार अशोक के फूल दो प्रकार के होते हैं - सफेद और लाल । सफेद तांत्रिक क्रियाओं में सिद्धिप्रद और लाल स्मरवर्धक माना जाता है ।

अशोक वृक्ष की पूजा इन्हीं गन्धर्वों और यक्षों की देन है । प्राचीन साहित्य में इसकी पूजा का सुन्दर वर्णन मिलता है । इस वृक्ष के अधिष्टाता कन्दर्प-देवता हैं, जिनकी पूजा होती है, जिसे

मदनोत्सव कहते थे । इसका सुन्दर वर्णन 'मालविकाग्निमित्र' और 'रत्नावली' में मिलता है । कवि इसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि राजघरानों में साधारणतः रानी ही अपने सनूपुर चरणों के आघात से इस वृक्ष को पुष्पित किया करती थीं । कभी-कभी रानी अपने स्थान पर किसी अन्य सुन्दरी को नियुक्त कर दिया करती थी । इस वृक्ष के नीचे स्फटिक आसन पर अपने प्रिय के साथ बैठकर सुन्दरियाँ अबीर, कुंकुम, चन्दन से कन्दर्प देवता की पूजा करती थीं । भारतवर्ष का स्वर्ण-युग इस सुन्दर फूल की गाथा से परिपूर्ण है ।

यह दुनिया जिससे उसका स्वार्थ पूरा होता है ऐसी वस्तु को ही वह याद रखती है और जिससे उसकी स्वार्थ सिद्धि नहीं होती उसे वह भुला देती है । इस बात का गवाह यह 'अशोक के फूल' है । सामन्त के उखड़ जाने पर एवं उस समाज के ढ़ह जाने पर धीरे-धीरे इस मदनोत्सव की धूम भी मिटने लगी । सन्तान कामिनियों को गन्धर्वों से अधिक शक्तिशाली देवताओं का वरदान मिलने लगा । पीरों ने, भूत-भैरवों ने, काली दुर्गा ने यक्षों की इज्जत घटा दी और इस तरह अशोक के फूलों का महत्व भी घटने लगा ।

कालिदास जैसे कल्पकवि ने अशोक के फूलों का वर्णन करते हुए उसे मादकता से पूर्ण बताया । इतना ही नहीं उसके किसलयों को भी मदमत्त करने वाला बताया था जो प्रिया के कानों में झूम रहा हो । इसका वर्णन करते हुए कहा है - 'किसलयप्रसवोऽपि विलासिनां मदयिता दयिता श्रवणार्पितः !' कवि कहते हैं कि शाखाओं में लम्बित, वायुलुलित किसलयों में भी मादकता है । परन्तु इस बात से लेखक का मन बहुत उदास है कि ऐसे सुन्दर फूल को सबने भुला दिया है आज ।

अंततः लेखक अपनी निराशा को त्याग, आशावादी बन कह उठते हैं कि आज अशोक उसी मौज में है जैसे हजारों साल पहले था । केवल आज लोगों की मनोवृत्ति बदल गयी है । लेकिन आज भी

अशोक के फूल उसी मस्ती में हँस रहा है । उसके रस का स्वाद लेने का ढंग बदल गया है । कालिदास ने उसका रसास्वाद अपने ढंग से लिया और आज उसका रसास्वाद अपने ढंग से लिया जा रहा है ।

4.8. द्विवेदीजी का निबंध - 'भारत वर्ष की सांस्कृतिक समस्या'

डॉ.हजारी प्रसाद जी इस सांस्कृतिक निबंध में भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या पर प्रकाश डाला है । उन्होंने भारतीय जनता की विविध साधनाओं की सबसे सुन्दर परिणति को ही भारतीय संस्कृति कहा है । हालाँकि उसकी अपनी समस्या कुछ भी नहीं है, वरन् वह खुद ही समस्याओं का समाधान है । परन्तु अलग-अलग कारणों से सारा भारतीय जनसमूह उसके उपलब्ध सत्य को आत्मसात् नहीं कर सका है । ऐसा क्यों नहीं हो पाया और किस तरह उस भारतीय संस्कृती को भारतीय जनता अपना बना सकती है - यही एक बहुत बड़ी समस्या है ।

भारतवर्ष जितना बड़ा है उतना ही इसका इतिहास भी पुराना और विशाल है । इस विशाल देश में अनेकों जातियाँ आयीं और अपने अनुसार उसे नये मोड़ देती रहीं और इसे समृद्ध बनाती रहीं । आर्य साहित्य इस देश का सबसे पुराना साहित्य है । परन्तु अनेक आर्येतर जातियाँ भी यहाँ निवास करती थीं । इन जातियों में जंगलीपन था । कुछ आर्येतर जातियाँ सभ्य और संस्कृत जीवन व्यतीत करती थीं । आर्यों का इनके साथ संघर्ष हुआ और वे इनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाये । उनके साहित्य, शिल्प ओर आचार-विचार में ये प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है । आर्यों के पश्चात् भी अनेक जातियाँ आयीं । कुछ ने आर्य सभ्यता के अंश को स्वीकार किया और कुछ दूर तक अपना प्रभाव भी उस पर छोड गयीं । इन्हीं नाना जातियों का मिलन क्षेत्र यह भारतवर्ष है ।

असली समस्या मनुष्यों को कल्याण मार्ग की ओर अग्रसर करना है । कुछ समस्याएँ समय के साथ उलझ जाती हैं जिसका साक्षी भारतवर्ष का इतिहास है । आर्यों और द्रविडों की सभ्यताओं का संघर्ष और बाद में समन्वय-यह ऐतिहासिक सत्य है । महाभारत और पुराणों में वर्णित आर्यों और नागों के क्रान्तिकारी संघर्ष से पता चलता है कि आर्यों ने नागों की रीति-नीतियों को अपनाया । सिन्दूर नाग-चूर्ण है जिसे आर्य स्त्रियों ने अपनाया है और जो आज हिन्दू विवाह का अविच्छेद्य अंग बन गया है । आर्यों का द्रविडों के साथ ही नहीं बल्कि मंगोलों, शकों के साथ भी संषर्घ हुआ और उसका फल समन्वय के रूप में परिणत हुआ । मनुष्य युक्ति और तर्क से काम लेता है और बहुत समय तक लड़ता नहीं रह सकता ।

इस भारतवर्ष में मुसलमानों के पहले अनेक विश्वास और आचार-विचारों वाले धर्म-मत प्रचलित थे, लेकिन जीवन के प्रति उनकी दृष्टि में समानता थी । इसी एकरूपता के कारण वे-सामान्य नाम-हिन्दू के नाम से पुकारे जाने लगे, जिन्हें भारतीय भी कहा जाने लगा । मध्ययुग में यह भारतीय जन-समूह दो भागों में बँट गया - हिन्दू और मुसलमान । इन दोनों में जीवन के प्रति दृष्टिकोण अलग-अलग था । 'हिन्दू' जन समूह का अत्यन्त सहज और लोकप्रिय वर्गीकरण रिजवी का है जिसे उन्होंने इस तरह सात भागों में बाँटा है -

1. कबीले की परवर्तित जाति 'आभीर' (अहीर) जो घूमती घामती इस हिन्दू समाज की एक जाति बन गयी । ये जाति आंशिक रूप से ही ब्राह्मण की श्रेष्ठता को मानती थी । विवाह, श्राद्ध आदि मौकों पर ब्राह्मण को बुलाती थी । कभी-कभी इतना जरूरी भी नहीं समझती थी ।

2. कुछ जातियाँ जो पेशे के कारण श्रेष्ठ मानी जाती हैं - चमार, लुहार, बढ़ई, बुनकर उनके पेशे से बनी जातियाँ हैं । पटवेगर जाति अपना ब्राह्मणत्व सिद्ध करती है । रसेल के अनुसार बनिया

कही जाने वाली जाति मूलतः राजपूत जातियाँ हैं । पेशे के अनुसार सारी हिन्दू जातियाँ बँटी हुयी हैं । बहुत सारी ब्राह्मण जाति जिन्होंने खेती-बाडी का काम स्वीकार कर लिया तो वह मर्यादा-भ्रष्ट मानी जाने लगी ।

3. उत्तर भारत के आतीथ, बंगाल के युगी और बोष्टम (वैष्णव) तथा दक्षिण भारत की अनेक जातियाँ जो मूलतः कोई धार्मिक सम्प्रदाय थीं ।

4. दो जातियों के मिश्रण से अनेक जातियाँ बनी हैं ।

5. कुछ जातियाँ जो राष्ट्रीय जातियाँ कहलाती हैं जिनमें नेवार जाति भी एक है ।

6. अपने मूल स्थान से दूर जाकर एक नयी जाति बन जाती है, जैसे गुजरात के नागर ब्राह्मण और बंगाल के कायस्थों का मूल शायद एक ही है ।

7. कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं जो अपनी मूल जाति से अलग कर दी गयी हैं और अपने आप को नयी जाति बताने लगी हैं । विधवा विवाह को मान्यता देने वाली जाति हीन मानी जाने लगी ।

इस प्रकार 'हिन्दू' जन समूह अनेक स्तरों में बँट गया । इतिहास बताता है कि मुसलमान शासन के पहले ये मर्यादा उतनी कठिन, दुर्लध्य नहीं थी । मुसलमानों के आने के बाद समाज में परिवर्तन दिखायी देने लगा । इस समूचे जनसमूह को एकरूपता देने वाला एक दृष्टिकोण मिला, जिसे कर्मफल का सिद्धान्त कहते हैं ।

हिन्दुओं का कर्म-बन्धन सिद्धान्त निश्चय ही अद्वितीय है । संसार की समस्त जातियों से उन्हें यह सिद्धांत अलग कर देता है । इस सिद्धांत ने समस्त भारतीय समाज को प्रभावित कर रखा है । भारतीय-समाज में जन्म से नीच समझी जाने वाली जातियों में विद्रोह का भाव नहीं आया-वह इस सिद्धांत को स्वीकार करने के कारण । नीच चाण्डाल जाति से लेकर उच्च जाति वाले ब्राह्मण भी इस कर्म की दुहाई देती हैं । हर एक आदमी अपने कर्मों का फल भुगतता

है । कर्म द्वारा अपने जनम को सुखमय बना सकता है ।

एक तरफ कर्म-सिद्धांत है तो दूसरी तरफ पेशे को धर्म का स्वरूप माना जाता है । पेशा धर्म तभी कहलाता है जब उसमें व्यक्तिगत लाभ-हानि की अपेक्षा सामाजिक मंगल का भाव प्रधान हो । इस दृष्टि से कोई भी पेशा खराब नहीं है । धर्म में त्याग का बहुत महत्व है । गन्दगी साफ करने का पेशा, श्मशान में शव-संस्कार करने का पेशा और हल जोतने का कार्य समाज में मंगल के लिए अत्यन्त जरूरी है । इन कार्यों को करने वालों में त्याग भी बहुत है । जो इस कार्य को करते समय गौरव का अनुभव करता है वह निस्संदेह धार्मिक है ।

मध्ययुग में ऊँच-नीच के भेद-भाव को दूर करने का प्रयत्न किया गया है । ये प्रयत्न धार्मिक भाव से प्रेरित हैं । इस आंदोलन में यही कहा गया कि सभी मनुष्य भगवान के बनाये हैं अतः सभी समान हैं ।

ये आन्दोलन सफल नहीं हो पाये क्योंकि धार्मिक संतों के नाम पन्थ चले । जिसमें कुछ ने इस कठोर व्यवस्था को अपनाया और कुछ लोगों ने अपनी अलग जाति बना ली । जैसे दक्षिण के लिंगायतों की जाति, बंगाल के वैष्णवों की जाति, कान्हू के शिष्य सपेरों की जाति । इस भेद-भाव को मिटाने के लिए जो धार्मिक आन्दोलन हुए वे सफल न हो पाये और आध्यात्मिक आदर्श को विकृत कर दिया ।

राजकीय और आर्थिक कारणों से जातियों की मर्यादाएँ घटी-बढ़ी हैं । राजकीय शक्ति पा जाने के बाद छोटी समझी जाने वाली जाति भी उत्तम और क्षत्रिय मानी जाने लगी और आर्थिक उन्नति के साथ शूद्र का दर्जा, वैश्य का दर्जा बन गया । जिस दिन उस दलित जन-समूह में राजनीतिक गरिमा और आर्थिक स्वाधीनता का संचार होगा, उसी दिन वह वास्तव में मुक्त हो सकेगा ।

भारतवर्ष में हिन्दुओं को छोड़ दूसरे धर्मावलम्बी भी हैं । इसमें

सबसे बडी संख्या मुसलमानों की है । इनका जीवन के प्रति दृष्टिकोण अलग-अलग है । हिन्दू समाज का व्यक्ति अपनी अलग सत्ता रखता है । दूसरे धर्म का अथवा बाहर का आदमी उसका अंग नहीं बन सकता, परन्तु मुसलमान समाज में कोई भी बाहर का आदमी उसके समाज का अंग बन सकता है । इस अन्तर के बावजूद यह कभी नहीं कहा जा सकता है कि ये दोनों कभी मिल नहीं सकते । जब अधिक अन्तर के बावजूद आर्य और द्रविड़ अच्छी तरह से मिल गये तो ये दोनों भी मिल सकते हैं लेकिन किस रास्ते पर मिल सकते हैं, यह प्रश्न विचारणीय है ।

लेखक ने हिन्दू-मुसलमान के मिलन के लिए तीन तरह से सन्धान पाया है । एक मार्ग संत और विद्वज्जनों का - गीता और कुरान के भक्तिमय आवेग वाले पद्यों में समानता खोज कर, परंतु साधारण जनता रूढ़ियों को अपना धर्म मानती है और यहीं से कलह का सूत्रपात होता है ।

दूसरा रास्ता नितांत लौकिक है । नाच-गाना, खेल-तमाशा, कपड़े-गहने, खरीद-बिक्री आदि बातों में हिन्दू-मुसलमान का मिलन बहुत दूर प्रसारी हैं । परन्तु यहाँ उच्चतर मनोवृत्ति का योग स्थापित नहीं हो पाता ।

तीसरा क्षेत्र है जहाँ हिन्दू-मुसलमान संकोच और झिझक छोड़कर मिले हैं - वह विज्ञान का क्षेत्र है । यही एक ऐसा क्षेत्र है जहाँ प्राचीन काल से ही हिन्दू और मुसलमानों ने एक दूसरे के वैज्ञानिक तत्वों को स्वीकारा है । अतः साम्प्रदायिक मिलन की भूमि वैज्ञानिक मनोवृत्ति है । इसी को उत्तेजित करना उचित है ।

वस्तुतः हिन्दू-मुस्लिम एकता साधन है साध्य नहीं । साध्य है मनुष्य को स्वार्थी धरातल से ऊपर उठाकर 'मनुष्यता' के आसन पर बैठाना । हिन्दू-मुसलमान के मिलन का उद्देश्य है मनुष्य को दासता, जाड़िभा, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना । मनुष्य को अपनी स्वार्थ की दुनिया से ऊपर उठाकर सत्य, न्याय और औदार्य

की दुनिया में ले जाना है । अतः लेखक का मत यही है कि मनुष्य का सामूहिक कल्याण ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए ।

4.9. द्विवेदीजी का निबंध -'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है'

डॉ.हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने इस निबंध में साहित्य के लक्ष्य पर प्रकाश डाला है । उनका मानना है कि जिस साहित्य में मनुष्य की संवेदनशीलता, जो हृदय परदुःखकातर न बना सके और जो मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से न बचा सके, वह साहित्य नहीं हो सकता ।

साहित्यकार को केवल कल्पना विलासी बनकर नहीं रहना चाहिए बल्कि उत्तम साहित्य की सृष्टि करना ही उसका लक्ष्य होना चाहिए । इस विशाल देश में शिक्षा की मात्रा बहुत कम है, अतः यहाँ के साहित्यकारों की जिम्मेदारी अधिक है ।

नगरों और गाँवों में फैला हुआ सैंकडों जातियों और सम्प्रदायों में विभक्त, अशिक्षा, दारिद्र्य ओर रोग से पीडित मानव-समाज हमारे सामने उपस्थित है । भाषा और साहित्य की समस्या वस्तुतः उन्हीं की समस्या है । अतः हमारी भाषा, साहित्य, राजनीति सब कुछ का उद्देश्य यही हो सकता है कि इन्हें मनुष्य कैसे बनाया जाए और इनको दुर्गतियों से बचाकर किस प्रकार मनुष्यता के आसन पर बैठाया जाए ।

हमारा यह देश जाति के भेद-भावों से भरा है । अनेकों लोग अकारण अपमान के शिकार बने हैं, इसी से उनमें हीनता की गाँठ पड़ी हुयी है । आजकल हिन्दू-मुसलमान के मिलन की समस्या हमारे सामने है लेकिन इससे भी बड़ी समस्या हिन्दू-हिन्दू मिलन की है । लेखक अपना मत प्रकट करते हुए कहते हैं कि जेसे-जैसे हमारे देशवासियों में आत्म-चेतना का संचार होगा, वैसे-वैसे हिन्दू-समाज की भीतरी समस्याएँ उग्र रूप धारण करती जायेंगी । दो-सौ वर्षों की राजनीतिक गुलामी को तोड़ने में हमें जितना प्रयास करना पड़ा है, उससे कहीं अधिक प्रयास करना पड़ेगा - इस सहस्र से अधिक वर्षों

की सामाजिक और आध्यात्मिक गुलामी को तोडने में ।

हमारे देश की मूल भाषा संस्कृत का अपना ही महत्व है । इस संस्कृत भाषा की ओर नाना जातियाँ झुकी । इस देश में अनादिकाल से संस्कृत भाषा का प्राधान्य स्वीकार किया गया है । ग्रियर्सन ने अपने विशाल सर्वे में एक भी ऐसा मामला नहीं देखा जहाँ आर्य भाषा-संस्कृत श्रेणी की भाषा-बोलने वाले किसी जन-समुदाय ने अन्य से अपनी भाषा बदली हो, यहाँ तक कि आर्य-भाषा की एक बोली के बोलने वालों ने भी दूसरी बोली को स्वीकार नहीं किया है । संस्कृत भाषा का सहारा लेकर अनेक जातियाँ ऊपर उठी हैं । आत्म चेतना भरने का काम भी संस्कृत भाषा करती रही है और आगे करती रहेगी । अतः साहित्य का मुख्य उद्देश्य ज्ञान के आलोक से वंचित इन मनुष्यों को ज्ञान देना है । उन्हें किस भाषा में ज्ञान देना है यह निर्णय उन्हीं की ओर देखकर करना होगा ।

संस्कृत भारतवर्ष की अपूर्व महिमाशालिनी भाषा है । उसका साहित्य विपुल है । उस भाषा को हिन्दी के माध्यम से समझने का प्रयास भी एक तपस्या के समान है । इसमें संयम और आत्मबल की आवश्यकता है ।

भारतवर्ष के पड़ोसी देशों में आजकल हिन्दी साहित्य पढ़ने और समझने की तीव्र लालसा जागृत हो रही है । चीन, मलय, सुमात्रा, जावा, समस्त ऐशिया से माँग आ रही है । अतः अब जरूरी है हमें अपने आप को उनकी श्रद्धा के योग्य बनाना ।

भारत के हजारों गाँवों और शहरों में फैली सैंकडों जातियों और उपजातियों का कल्याण ही साध्य है और भाषा-संस्कृत, फारसी, व्याकरण और छंद, साहित्य और विज्ञान, धर्म और ईमान सब साधन हैं ।। हमारे सारे प्रयत्नों का एक मात्र लक्ष्य है - मनुष्य ।

हिन्दी साधारण जनता की भाषा है । जनता के लिए ही उसका जन्म हुआ था । वह अपराजेय शक्ति के बल पर खड़ी है । वह विरोधों ओर संघर्षों में पली है । उसने किसी राजशक्ति की

उँगली पकड़कर अपनी यात्रा नहीं तय की, बल्कि अपनी भीतरी शक्ति से इस अद्वितीय भाषा का अधिकार प्राप्त किया है । हिन्दी करोड़ों नर-नारियों की आशा और आकांक्षा, क्षुधा और पिपासा, धर्म और विज्ञान की भाषा है । हिन्दी सेवा का अर्थ करोड़ों की सेवा है ।

हमारे देश में अधिकांश का मार्ग मातृभाषा और उसके साहित्य द्वारा देश की सेवा करना है । यह उत्तम मार्ग है । अपनी भाषा, अपनी संस्कृति और अपने साहित्य से प्रेम होना बुरी बात नहीं है, पर जो प्रेम ज्ञान द्वारा चालित और श्रद्धा द्वारा अनुगमित होता है वही प्रेम अच्छा है । हिन्दी के प्रति जो हमारा प्रेम है वह उचित है लेकिन उसकी शक्ति को समझना आवश्यक है । केवल कविता या कहानी लिखने से वह बड़ी नहीं हुयी है, बल्कि कोटि-कोटि जनता के हृदय और मस्तिष्क की भूख मिटाने में यह भाषा सबसे बड़ा साधन हो सकी है ।

भारतवर्ष में अनादिकाल से नाना जातियाँ आयीं और साथ में उनके संस्कार रीति-रस्में भी आती रहीं । विदेशी पराधीनता ने इसके स्वाभाविक विकास में बाधा पहुँचायी । उसका बाह्यरूप विचित्र-सा दिखयी दे रहा है । इसी वैचित्र्यपूर्ण जन समूह को आशा और उत्साह का सन्देश देना साहित्य सेवा का लक्ष्य है । साहित्य साधक केवल अपनी कल्पना की दुनिया में विचरण करके केवल 'हाय-हाय' की या 'वाह-वाह' की पुकार करके अपने सामने की कुत्सित कुरूपता नहीं बदल सकता । हमें उस समूची विद्या को सीखना पड़ेगा, जो विश्व रहस्य के नये-नये द्वार खोल रही है, जो प्रकृति के समस्त गुप्त भण्डार पर धावा बोल रही है, जो मनुष्य को असीम सुख और समृद्धि तक ले जा सकती है । फिर हमें उस स्वार्थ शक्ति को भी समझना है जो इस विद्या का गलत प्रयोग कर रहे हैं । आज की जनता की दुर्दशा को अगर उखाड़ फेंकना है तो राजनीति, अर्थनीति, और विज्ञान की नयी प्रवृत्तियों से परिचित होना आवश्यक है ।

साहित्य ही मनुश्य को भीतर से सुसंस्कृत और उन्नत बनाता

है और तभी उसका बाह्य रूप भी साफ और स्वस्थ दिखायी देता है और साथ ही आन्तरिक स्वास्थ्य का भी आरम्भ होता है । दोनों ही बातें अन्योन्याश्रित हैं । साहित्य की साधना तब तक बध्य रहेगी जब तक पाठकों में अदमनीय आकांक्षा जागृत न कर दे, जो सारे मानव-समाज को भीतर और बाहर से सुन्दर तथा सम्मान योग्य देखने के लिए सदा व्याकुल रखे । अगर यह आकांक्षा जागृत न हुयी तो सारी विद्या व्यर्थ है । लेखक के अनुसार भूख होनी चाहिए । जैसे -गरूड ने उत्पन्न होते ही कहा ''माँ बहुत भूख लगी है ।'' माता विनता घबरा गयी और विलाप करने लगी कि इस प्रचण्ड क्षुधाशाली पुत्र को अन्न कहाँ से दे । पिता कश्यप ने आश्वासन देकर कहा - ''कोई चिन्ता की बात नहीं, महान् पुत्र उत्पन्न हुआ है क्योंकि उसकी भूख महान् है ।'' हमारी भाषा को भी इस समय प्रचण्ड साहित्यिक क्षुधा वाले महान् पुत्र की आवश्यकता है । जिस दिन ऐसे पुत्र पैदा होंगें उस दिन मातृ-भाषा धन्य हो जायेगी ।

इस प्रकार लेखक ने देश की भिन्नता, जातीयता के भेद-भाव के बावजूद मनुष्यत्व को स्वीकारा है । मनुष्य की भलाई के लिए अपने-आप को निःशेष भाव से देकर ही जीवन सार्थक हो सकता है । सम्पूर्ण देश एक है, भेद-विरोध ऊपरी हैं, सबके भीतर मनुष्य एक है, उसके सुख-दुःख को समझना, उसे मनुष्यता के पवित्र आसन पर बैठाना ही हमारा कर्तव्य होना चाहिए । इसी बात पर हैरान होकर कबीर ने कहा है -

''कबीर इस संसार को समझाँऊ के बार
पूँछ जु पकडे भेद का, उतरा चाहे पार ।।''

4.10. समाहार

द्विवेदीजी के आलोचनात्मक रचनाओं में उनकी विचार श्रृंखलाओं में ऐसा तारतम्य रहता है कि पाठक का मन विषय-वस्तु में भटकने नहीं पाता । अपनी रचनाओं में सूत्र रूप में कहने का उन्हें अवसर ही नहीं मिलता । वे अपनी शैली में प्रायः व्याख्यात्मक अधिक हैं । गंभीर से गंभीर विषय को साधारण पाठक तक पहुँचाने में वे

ऐसी भाषा और शैली का व्यवहार करते हैं कि विषय पाठक के सामने स्पष्ट और साकार हो जाता है । इस प्रकार द्विवेदीजी अपनी शैली और भाषा में अत्यंत सफल हैं । 'अशोंक के फूल' निबंध में धारा शैली का प्रयोग हुआ है । उनके आलोचनात्मक निबंधों में उनके कुछ निबंध ऐसे हैं, जिनमें साहित्य के विभिन्न अंगों पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार किया गया है और कुछ ऐसे हैं, जिनमें साहित्यकारों की रचनाओं पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है । इन निबंधों पर द्विवेदीजी के व्यक्तित्व और विद्वत्ता की छाप है । द्विवेदीजी का व्यक्तित्व नैसर्गिक सौंदर्य के प्रति सहज आकर्षित हो उठता था । अशोक, केदार और शिरीष पुष्प उन्हें विशेष रूप से आकर्षित करते थे । यह आकर्षण 'अशोक के फूल' (निबंध-संग्रह का नाम तथा इस शीर्षक का निबंध) में प्रतिफलित है । उनके व्यक्तित्व की एक और विशेषता थी । वे किसी देश की संस्कृति को संपूर्ण मानवता की आधार शिला स्वीकार करते थे । उन्हीं के शब्दों में - 'संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है ।' इस प्रकार के विचारों से यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि वे कितने व्यापक धरातल पर सोचते थे और उनका व्यक्तित्व कितना विशाल था । उनका व्यक्तित्व भारतीय साहित्य और संस्कृति की पृष्ठभूमि में पल्लवित हुआ था । वे भारतीय संस्कृति में निमग्न थे । 'भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या' और 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' जैसे निबंधों में व्यक्त उनकी मान्यताएँ उनके व्यक्ति-वैशिष्ट्य की द्योतक हैं । निस्संदेह द्विवेदीजी व्यक्ति व्यंजक निबंधकारों में श्रेष्ठतम हैं । शुक्लजी के बाद की पीढ़ी के निबंधकारों में द्विवेदीजी सबसे सशक्त निबंध-लेखक हैं ।

4.11. बोधप्रश्न

1. हजारीप्रसाद द्विवेदीजी के निबंधों का संक्षिप्त परिचय दीजिए ।
2. द्विवेदीजी के निबंधों की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए ।

3. हिन्दी निबंध-साहित्य के क्षेत्र में द्विवेदीजी का स्थान निर्धारित कीजिए ।
4. द्विवेदीजी के 'अशोक के फूल' निबंध की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए ।
5. 'भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या' निबंध पर विवेचनात्मक लेख लिखिए ।
6. 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' निबंध का सार लिखकर उसकी विशेषतओं का विवेचन कीजिए ।

ಆದೇಶ ಸಂಖ್ಯೆ : ಕರಾಮುವಿ/ಅಸಾವಿ/4–060/2013–2014 ದಿನಾಂಕ : 24–09–2013
ಒಳಪುಟ : 60 GSM MPM ವೈಟ್ ಪ್ರಿಂಟಿಂಗ್ ಪೇಪರ್ ಮತ್ತು ಹೊರಪುಟ: 170 GSM ಆರ್ಟ್‌ಕಾರ್ಡ್
ಮುದ್ರಕರು : ಅಭಿಮಾನಿ ಪಬ್ಲಿಕೇಷನ್ ಲಿ., ಬೆಂಗಳೂರು–10 ಪ್ರತಿಗಳು : 1,200

Karnataka State Open University

Manasagangotri Mysore - 570 006

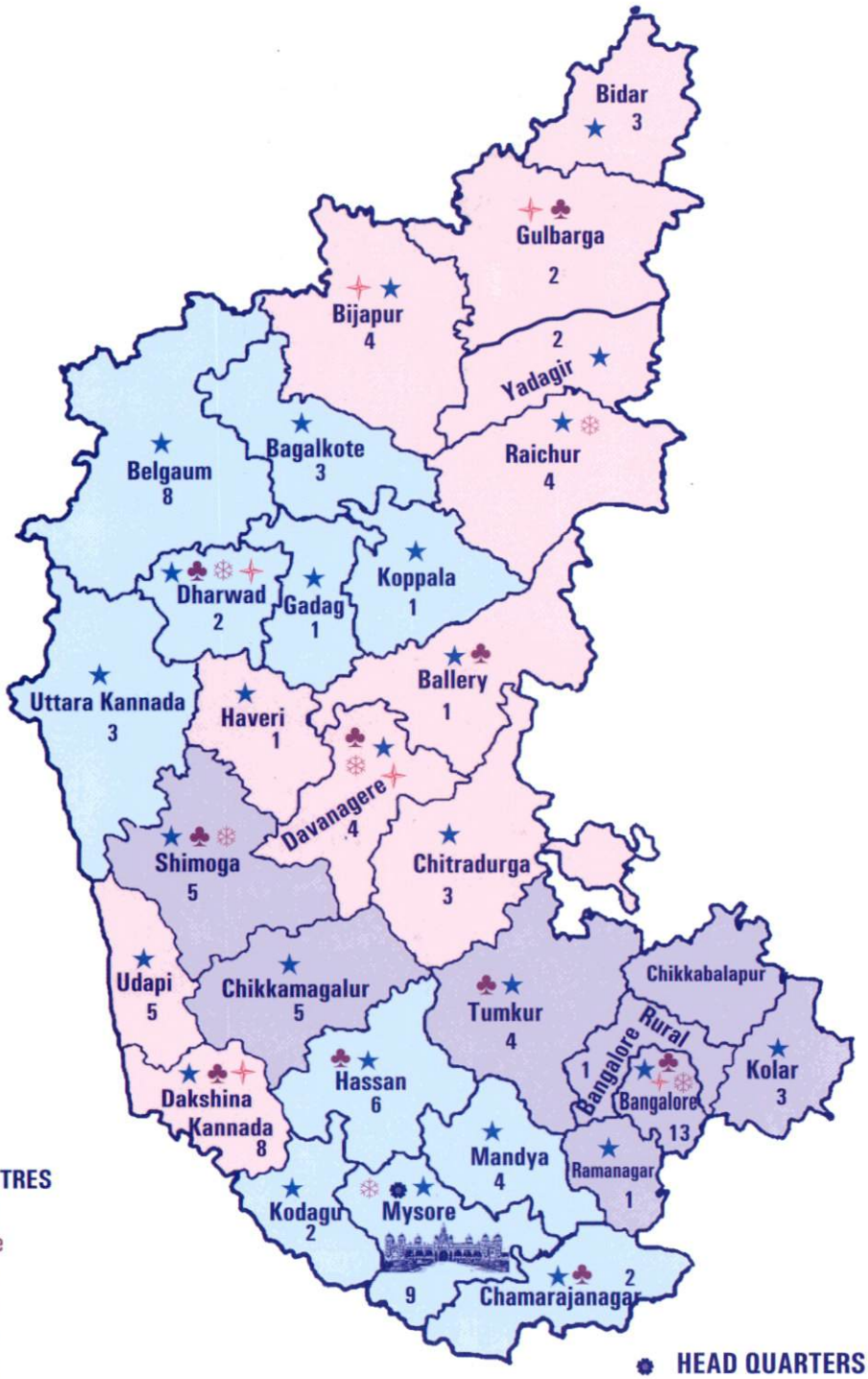

♣ REGIONAL CENTRES

Bangalore
Davanagere
Gulbarga
Dharwad
Shimoga
Mangalore
Tumkur
Hassan
Chamarajanagar
Bellary

✹ HEAD QUARTERS

★ Total Study Centres : 111

♣ Regional Centres : 10

❄ B.Ed Study Centres : 10

✦ M.Ed Study Centres : 08

Karnataka State Open University

Manasagangothri, Mysore - 570 006.

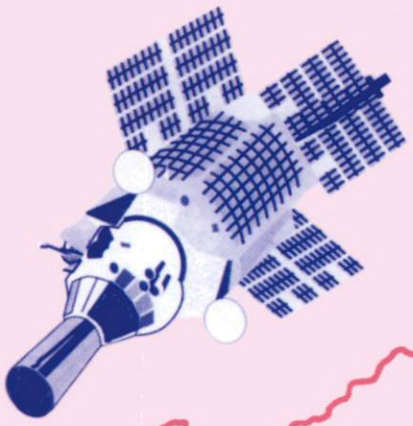

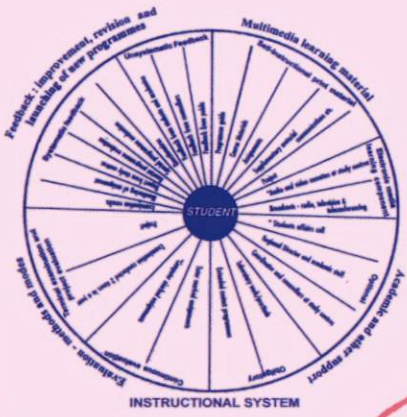

INSTRUCTIONAL SYSTEM